'साहित्य-मण्डल-माला' की बत्तीसवीं पुस्तक—

साम्यवाद की चिनगारी

(प्रो० हैरल्ड जे० लास्की की 'कॉम्युनिज़्म'-नामक पुस्तक का अनुवाद)

अनुवादक—

श्री० जितेन्द्रमणि शर्मा

भूमिका-लेखक—

श्री० बाबू सम्पूर्णानन्द

प्रकाशक—

साहित्य-मण्डल,

दिल्ली।

मूल्य तीन रुपया

प्रकाशक—

ऋषभचरण जैन,

मालिक—साहित्य-मण्डल,

बाज़ार सीताराम,

दिल्ली ।

पहली बार

१९३४

मुद्रक—

रूप-वाणी प्रिंटिंग हाउस,

चावड़ी बाज़ार,

दिल्ली ।

भूमिका

मैं 'साम्यवाद की चिनगारी' नाम की इस पुस्तक के मुख्यांश को देख गया हूँ। इसका आधार प्रो० हैरल्ड लास्की की 'कम्यूनिज़्म' है। प्रो० लास्की राजनीति के ख्यातनामा पण्डित हैं, और उनकी सम्मतियों से मतभेद रखनेवाले भी उनके तर्क को आदर की दृष्टि से देखते हैं। इस पुस्तक को प्रो० लास्की ने ऐसे आलोचक की दृष्टि से लिखा है, जो कम्यूनिज़्म के कई आधारभूत सिद्धान्तों मानते हुए भी उन सिद्धान्तों से निकृष्ट परिणामों को मानने में असमर्थ हैं। जो लोग कम्यूनिस्ट और तृतीय इण्टर्नेशनल को अपना पथ-प्रदर्शक मानते है, वह लास्की की विचार-धारा को स्वीकार नहीं करते, पर उनके लिए यह आवश्यक हो

जाता है कि लास्की की उठायी हुई शङ्काओं का समाधान करें।

आजकल भारत में भी समाजवाद की चर्चा सुन पड़ने लगी है। ऐसे लोग तो श्रमिक आन्दोलन में कई वर्षों से काम कर रहे हैं, जो अपने को कम्यूनिस्ट कहते हैं, पर अब कॉङ्ग्रेस के भीतर भी कॉङ्ग्रेस-सोशलिस्ट-पार्टी नाम का एक दल होगया है। राजनैतिक और आर्थिक कारणों ने भारत के राजनैतिक क्षेत्र में काम करनेवालों को इन प्रश्नों पर विचार करने के लिये विवश कर दिया है। भारत की राजनैतिक परतन्त्रता, शिक्षित सुफ़ेदपोशों की बेकारी, कृषकों की दुर्दशा—इत्यादि ऐसी बातें हैं, जिनकी ओर से कोई भी विवेकशील व्यक्ति आँख बन्द नहीं कर सकता। उधर हमारे सामने वह प्रयत्न—कम्यूनिज़्म, फ़ैसिज़्म, सोशलिज़्म-आदि भी हैं, जिनका ऐसी समस्याओं के सुलझाने के लिये प्रयोग पश्चिमीय जगत् कर रहा है। इनमें से

अन्त में कौन सफलतम होगा, यह कहना कठिन है। पर बुद्धि यही कहती है कि मनुष्य-समाज का उद्धार किसी-न-किसी प्रकार के समाजवाद के ही शरण में जाने से होगा। पूँजीवाद के आधिपत्य के रहते हुए आभ्यन्तर, बाह्य कलह और अशान्ति का अन्त नहीं हो सकता।

परन्तु अब प्रश्न यह होता है कि यदि समाजवाद को अपनाना ही है तो उसका कौन-सा स्वरूप अधिक श्रेयस्कर है। रूस के उदाहरण ने अगत्या सब का ध्यान कम्यूनिज़्म की ओर आकर्षित कर दिया है। प्रस्तुत पुस्तक इसी प्रकार के विचारों की आलोचना करती है। उससे यह पता चलता है कि किन बातों में सभी शैलियों के सोशलिस्ट लोग मार्क्स के अनुयायी होने के नाते कम्यूनिज़्म से सहमत हैं, पर किन बातों में उनका उससे वैपरीत्य है। कम्यूनिज़्म के अनुयायियों के लिये इसके प्रौढ़ तर्कों के उत्तर देना बहुत सरल न होगा।

अनुवाद के विषय में मुझे दो-तीन शिकायतें हैं। एक तो पुस्तक का नाम विषय के गाम्भीर्य के अनुकूल नहीं है। दूसरे 'वर्गवाद' और 'साम्यवाद' का प्रयोग ऐसा हुआ है—कहीं-कहीं एक ही वाक्य में यह शब्द इस तरह आ गये हैं कि ठीक समझ में नहीं आता कि इनका ठीक-ठीक प्रतिपाद्य अर्थ क्या है। आजकल भारत की कई भाषाओं में सोशलिज़्म के लिये 'समाजवाद' का प्रयोग होता है। यह शब्द साम्यवाद से अच्छा है। इसी प्रकार कम्यूनिज़्म को 'वर्गवाद' कहने की प्रथा हिन्दी में चल पड़ी है, पर यह शब्द अच्छा नहीं है। अभी एक नई पुस्तक आधुनिक 'राजनीति का क, ख, ग' काशी से निकली है। इसके रचयिताओं की राय में कम्यूनिज़्म को श्रमजीविवाद या समूहवाद कहना अधिक उपयुक्त होगा। मैं भी इससे सहमत हूँ।

साधारण हिन्दी-पाठक इस पुस्तक में ज़िक्र की

हुई घटनाओं में से कई सम्भवतः अपरिचित होंगे, पर मूल विषय समझने में किसी को कठिनता न होनी चाहिए। मुझे आशा है कि जनता की विचार-पुष्टि और राजनीतिक शिक्षा के लिये यह पुस्तक उपयोगी सिद्ध होगी।

जालिपा देवी, काशी
२६—६—३१

—सम्पूर्णानन्द

साम्यवाद की चिनगारी
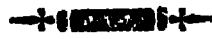
पाश्चात्य राजनैतिक विचार-धारा में साम्यवाद का स्थान बहुत प्राचीन है। दार्शनिक प्लेटो के प्रजातन्त्र-वाद में इसके चिह्न मिलते हैं। उसके उपरान्त समय-समय पर किसी-न-किसी न्याय-प्रिय व्यक्ति ने व्यक्तिगत सम्पत्ति की सत्ता के परिणाम-स्वरूप उत्पन्न हुए अन्याय को देखकर इसे मिटा देने के लिए आवाज़ उठाई है। सुधार-युग के समय तक जितना भी राजनैतिक साहित्य मिलता है, उसमें व्यक्तिगत सम्पत्ति के दोषों की ओर ध्यान आकर्षित करने की चेष्टा की गई है। इस युग के बाद आर्थिक क्षेत्र में व्यक्तिवाद ने पदार्पण किया। इस नवीन विचार-शैली के १८०० वर्ष पूर्व तक यह धारणा प्रचलित रही, कि जब सब मनुष्य, मनुष्य होने के नाते, समान हैं, तो उनके अधिकार भी समान होने चाहियें;—आर्थिक क्षेत्र में भी इसी समानता का साम्राज्य होना चाहिये।

मध्य-कालीन इतिहास में हमें कई ऐसे व्यक्तियों और समुदायों का उल्लेख मिलता है, जिन्होंने कट्टर साम्यवाद का प्रचार किया है। यह कहना अनुचित न होगा कि मध्यकाल में जब कभी भी कोई कष्टप्रद समस्या उत्पन्न हुई, तो एक-न-एक विद्वान् ने इस बात का ज़ोरदार आन्दोलन किया कि उपस्थित कुरीतियों से छुटकारा पाने का एक-मात्र उपाय व्यक्तिवाद की सत्ता को मिटा देना है।

इस समय का प्रचलित साम्यवाद सार-रहित था। वाइक्लिफ़ (Wyclyiff) के साम्यवाद-विषयक विचारों से साफ़ प्रकट है, कि वह क्रान्ति के विरोधी थे। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि इस समय जनमत पदार्थवाद के प्रतिकूल होगया था, इसलिये इस समय का साम्यवाद केवल पदार्थवाद के विरुद्ध उद्गारों का फल है, न कि इस आदर्श के सिद्धान्तों में विश्वास का।

सुधार-युग से फ्रांस की राज्य-क्रान्ति के समय तक प्रायः यही हाल रहा। इस क्रान्ति के समय में भी कई विद्वानों ने अपने विचार प्रकट किये। सर टामस मार के उद्गारों से साफ़ प्रकट होता है कि एक कोमल और भावुक हृदय को इस समय की प्रचलित न्यायपूर्ण आर्थिक प्रणाली के कारण कितना क्लेश पहुँचा। गेरौर्ड विन्टसेन ली और उसके अनुयायी साम्यवाद की वास्तविकता के बहुत-कुछ निकट आ गए थे। इनका मत यह था कि "प्रत्येक व्यक्ति को अपनी सामर्थ्य के अनुसार काम करना चाहिए और इसके बदले में उसे अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए

यथेष्ट सामग्री मिल जानी चाहिए।" व्यापारिक क्षेत्र में माल के उत्पादन के लिए सब लोग सहयोग करें, विनिमय (Exchange) का अन्त कर दिया जाय। जो व्यक्ति अपना नियमित कार्य पूरा न करे, उसे इसके लिए दण्डित किया जाय। इन विचारों में साम्यवाद की गहरी झलक है। परन्तु 'विन्सटेन जी' आदर्शवादी थे। उन्होंने आदर्श के महत्त्व को तो भली प्रकार समझ लिया, पर यह निश्चय नहीं कर सके कि किन साधनों के द्वारा इस आदर्श को प्राप्त किया जाय। इसलिए उनका क्षेत्र विचारों तक ही सीमित रहा।

औद्योगिक क्रान्ति के पहिले भी हमें कई ऐसे विचारक मिलते हैं, जिन्होंने साम्यवाद के आदर्श का समर्थन किया है। १८ वीं शताब्दी के फ्रांस में यदि एक ओर धन-वैभव की पराकाष्ठा थी, तो दूसरी ओर दुःख-दरिद्र की। इस कटु अन्तर ने वहाँ साम्यवाद की जड़ जमा दी। अपने अनुयाइयों की हृदय-विदारक दशा देखकर धर्म-प्रचारक मेस्लियर (Meslier) को बड़ी यंत्रणा हुई, और उन्होंने दुःखी होकर कहा—"अभागे भाइयो, तुम्हें यह देखकर आश्चर्य होता होगा, कि तुम्हारे जीवन में कितनी क्रूरता है, कितनी यन्त्रणा है। यदि सम्पत्ति का न्यायपूर्ण विभाजन होजाय, तो उसमें तुम्हरा भाग इतना काफ़ी होगा कि तुम्हें कर (Tax) देने में कठिनाई नहीं होगी।" मेस्लियर ने इन अत्याचारों का घोर विरोध किया है, और कहा है कि इनसे छुटकारा पाने का केवल-मात्र उपाय प्रचलित अन्यायपूर्ण शैली के

विरुद्ध क्रान्ति है। किस प्रकार इस क्रान्ति की ज्वाला को उत्पन्न किया जाय? इस प्रश्न का उत्तर उन्होंने यह दिया है, कि क्रान्ति करने की शक्ति जनता में है, और साहस और धैर्य की सहायता से वह इस मार्ग का सरलता से अनुसरण कर सकती है। उसकी उक्ति से साफ़ प्रकट है कि एक पवित्र आत्मा पर इस अन्याय का कितना गहरा प्रभाव पड़ता है। उसकी बातें नाम-मात्र के सुधारकों का दिमाग़ी उबाल नहीं हैं।

इस सम्बन्ध में मैबली और मोरेली के नाम भी उल्लेखनीय हैं। मोरेली ने अपनी पुस्तक 'कोड डि ला नेचर' में साम्यवाद का पूरा ख़ाका खींच दिया है, पर इस पुस्तक में विशेष ध्यान यह सिद्ध करने की ओर दिया गया है कि साम्यवाद व्यक्तिवाद की अपेक्षा बहुत उत्कृष्ट है। इसमें इस बात की ओर यथेष्ट ध्यान नहीं दिया गया है कि इस उच्च आदर्श को कैसे प्राप्त किया जाय? मैबली रूसो का शिष्य और एक योग्य और सच्चरित्र व्यक्ति था। समानता की उसे धुन थी। उसका यह विश्वास था कि यदि आर्थिक क्षेत्र में समानता होजाय तो मनुष्यों के भावों का पतन न हो। समानता के अभाव से किस प्रकार बुराइयाँ बढ़ती हैं, इसका उसने बड़ी योग्यता से चित्रण किया है। उसने लिखा है कि जब कुल सम्पत्ति पर सब का समान भाव से अधिकार होगा, तो किसी को भी किसी वस्तु की कमी से कष्ट नहीं उठाना होगा।

पर यह परिवर्तन किस उपाय से हो, इस प्रश्न पर प्रकाश

नहीं डाला गया है। क्रांति की सम्भावना को ये भी स्वीकार करते हैं, पर दासता की ज़ंजीर में बँधी हुई जनता किस प्रकार क्रांति करने की तैयारी करे, इस प्रसङ्ग की ओर इन्होंने ध्यान नहीं दिया। एक बार पोलैंड के निवासियों ने इनसे अपने देश की स्थिति के विषय में परामर्श किया। उस अवसर पर इन्होंने अपनी सम्मति देते हुए कहा—"अनिवार्य परिवर्तन स्वयं ही अपना मार्ग बना लेगा; हाँ, उसकी गति तेज़ नहीं होगी।" इन्होंने ऐसे सुधार भी बतलाए, जिनके द्वारा व्यक्तिवाद की बुराइयाँ कम हो जायँ। यह सब तो उन्होंने कहा, पर परिणाम के विषय में वहे कुछ निराश ही रहे।

इस समय व्यक्तिवाद के विरुद्ध एक हवा-सी चल गई थी। पाश्चात्य देशों में व्यक्तिवाद की सत्ता का नाश करने की उत्कण्ठा बढ़ती जाती थी। जनता की पुष्ट धारणा यह होगई थी कि अब इस सत्ता को मिटाकर उसके स्थान पर किसी-न-किसी दूसरी सत्ता को स्थापित करना ही होगा। इसलिये जिसने भी इस विषय में अपने विचार प्रकट किए, वह बहुत-कुछ साम्यवाद से मिलते-जुलते हुए थे। इस समय अधिक ध्यान इसकी ओर था कि व्यक्तिवाद का अन्त होजाय। अब इसका अन्त करके इसका स्थान किसी और सत्ता को देना अनिवार्य है। इसलिए इस नई सत्ता की ओर भी लोगों को ध्यान देना पड़ा। पर किसी ने भी यह न बतलाया कि इस सत्ता को मिटाने और दूसरी सत्ता को जमाने के लिए कार्य-क्रम क्या होना चाहिए।

गाडविन का कहना है, "जब सम्पत्ति अल्प संख्या के अधिकार में होगी, तो असमानता का होना अनिवार्य है। समानता न रहने पर नैतिक और मानसिक उन्नति का होना असम्भव है। अहङ्कार और कुटिलता और धनहीनता से दासता की मनोवृत्ति उत्पन्न होगी। गाडविन ने भी न तो किसी विशेष परिणाम को ही दृष्टि में रक्खा, न उसकी प्राप्ति के लिये यथेष्ट साधनों का ही विचार किया। उसने भी केवल प्रचलित कुप्रथाओं का विरोध किया।

एक बात का इस प्रसंग में अवश्य उल्लेख होना चाहिये। यह उद्योग की उन्नति का आरम्भिक युग था, और इसीलिए जनता का ध्यान इसकी त्रुटियों की ओर सामूहिक रूप में आकर्षित नहीं हुआ। यह तो अवश्य अनुभव होने लगा था, कि समाज में धनवान और निर्धन दो भेद होगये हैं। पर अभी तक इस अनुभव में इतनी कटुता नहीं आई थी कि निर्धनों में सामूहिक रूप से इसका विरोध करने की प्रबल इच्छा उत्पन्न कर दे। इस समय जो उपाय जनता के सामने रक्खे गये थे, उनका आधार नैतिक आदर्श था; कोई वास्तविक कार्यक्रम निश्चय नहीं किया गया था।

'औद्योगिक क्रान्ति' से जहाँ माल बनाने के उपायों में परिवर्तन हुआ, वहाँ सामाजिक सङ्गठन में भी परिवर्तन होगया। अब सहस्त्रों मनुष्यों को कारख़ानों में साथ-साथ कार्य करने पर विवश होना पड़ा, और समाज में दो भेद हो गये—सेठ और मज़दूर। हर व्यक्ति को अपनी स्थिति और साधनों के अनुसार

था तो सेठ-समुदाय में या मज़दूर-समुदाय में सम्मिलित होना पड़ा। व्यक्तिवाद का प्रायः अन्त होगया।

यह वह समय था, जब नैपोलियन और उसकी युद्ध-नीति से योरोप का पीछा छूट चुका था। कुछ लोगों को अब अपार धन कमाने की इच्छा ने वश में कर लिया। दूसरी ओर यह दावा किया जाने लगा कि माल बनाने में मज़दूरों का हाथ है; बिना उनकी सहायता के माल बन ही नहीं सकता है, और इसलिए लाभ में उचित भाग न देकर मज़दूरों को सेठ लोग लूट रहे हैं। सन् १८१५ के पश्चात् आन्दोलन इसी बात पर होने लगा। अब इस बात की आवश्यकता अनुभव हुई कि मज़दूरों के हितों की रक्षा के लिए भी कोई संस्था बनाई जाय। परिणाम-स्वरूप 'ट्रेड यूनियन्स' की उत्पत्ति हुई। यह सब को निश्चय होगया था, कि मज़दूरों के साथ घोर अन्याय हो रहा है। इसके प्रतिकार के लिए नाना प्रकार के उपायों का भिन्न-भिन्न व्यक्तियों ने समर्थन किया। ओवेन के अनुयायियों ने 'ग्रैण्ड नेशनल कान्सालिडेटेड ट्रेड्स यूनियन' स्थापित किया। 'बेनवो' ने हड़ताल पर ज़ोर दिया। इससे मालूम होता है कि इस समय असन्तोष बहुत बढ गया था। इसी विषय में जितने भी साधन सम्भव थे, सब की चर्चा किसी-न-किसी ने कर ही डाली। पर दो बातों की कमी थी; ठीक उपायों की, और परिस्थिति को पूर्णतया समझने की।

इँगलैण्ड के वह लेखक, जिन्होंने साम्यवाद पर आरम्भ में

लिखा था, अपने भाव-विश्लेषण में अद्वितीय हैं। अपने आदर्श का उन्होंने बड़ी योग्यता और दृढ़ विश्वास से समर्थन किया है। पर वह अपने मन्तव्य का ऐसा उक्तिपूर्ण समर्थन नहीं कर सके, जिससे सब लोग उससे प्रभावित हो जायँ। न तो उन्होंने यह ही प्रयत्न किया कि अपने सिद्धान्त को ऐतिहासिक निष्कर्ष की महत्ता दें; न उन्होंने ऐसे साधन ही बतलाये, जो इस निष्कर्ष पर निर्धारित हों। इसलिए उनका प्रयत्न केवल उच्च उद्गारों का एक जटिल समूह है।

फ्रान्सवाले भी इसमें जीवन-शक्ति नहीं उत्पन्न कर सके। वहाँ के विद्वानों ने इस विषय पर मार्क्स की पुस्तकें लिखीं, पर वे भी इसकी समस्या को पूरे तौर पर नहीं सुलझा सके। 'सेण्ट साइमन' की गम्भीर दृष्टि से यह न छिप सका कि कला-प्रधानता का एक नया युग आरम्भ हो गया है। फ़ाउरियर के विचार में वह समाज-सत्ता, जिसका हार्दिक समर्थन जन-समाज न करे, स्थायी नहीं रह सकती। प्रउडन ने कृषकों में साम्यवाद का प्रचार किया। लुई ब्लैंक की सम्मति है कि यदि अधि-कारियों के निर्वाचन में सब को मत देने का अधिकार प्राप्त हो जाय, तो राज्य-व्यवस्था वर्तमान अधिकारियों के हाथ से निकल आवे। यह सब लोग अर्थवाद की निर्बलता को भली प्रकार समझते थे। इनकी बहुत-सी बातों से मार्क्स ने बाद में काम भी लिया। सेठों और श्रमजीवियों के बीच में एक अमिट अन्तर है। सेठ लोग श्रमजीवियों का रक्त-शोषण करते हैं।

समाज में प्रचण्ड भेद-भाव है। जन-समाज के सम्पत्तिहीन होने से सदा सङ्कट उत्पन्न होने की सम्भावना है। छोटी पूँजीवाले व्यवसाइयों को अधिकाधिक बड़े व्यवसाय-सङ्घों पर निर्भर होने की आवश्यकता है। यह सब बातें फ़ान्स के विचारकों के सन्मुख थीं। कठिनाई यह थी कि अभीष्ट-सिद्धि के लिए यह उपर्युक्त साधनों का निश्चय नहीं कर सके। वह ऐसे ऐतिहासिक निष्कर्ष का निर्माण नहीं कर सके, जो उपर्युक्त साधनों की कसौटी हो और समाज-सङ्गठन में परिवर्तन के औचित्य को संशय-रहित सिद्ध कर दे। इस महान् कार्य का श्रेय 'मार्क्स' को है। मार्क्स के महत्वपूर्ण कार्य ने साम्यवाद में जीवन-शक्ति फूँक दी। उसने ही साम्यवाद को उठाकर पैरों पर खड़ा कर दिया। उसने उसका ठीक मार्ग पर सञ्चालन किया। वह साम्यवाद का प्रथम नेता था, जिसने अनुभव किया कि एक आदर्श विधान का नक़्शा खींच देना इस प्रश्न के सामने कुछ भी महत्व नहीं रखता, कि वर्तमान स्थिति से आदर्श तक पहुँचने के लिए किन साधनों की आवश्यकता है। इस बात को भी उसी ने पहली बार समझा कि इन साधनों को निर्धारित करने से पहिले वर्तमान समय की परिस्थितियों को समझ लेना आवश्यक है। उसके काम के परिणाम-स्वरूप आर्थिक व्यक्ति-वाद के समर्थक अपने सिद्धान्तों की रक्षा करने के लिये बाध्य हो गए। दूसरा प्रभाव यह हुआ कि उनके अनुयायियों के हृदय में विश्वास और साहस का आविर्भाव हुआ, जो बढ़ता ही जाता है। चाहे 'मार्क्स' की अर्थनीति दोष-रहित

न हो, चाहे उसकी समाज-नीति में समय-विशेष के स्पष्ट चिन्ह मिलते हों, फिर भी यह स्वीकार करना पड़ता है, कि उसके व्यक्तित्व का और उसके मन्तव्यों का अकथनीय प्रभाव पड़ा है।

'मार्क्स' का जन्म १८१८ में हुआ। इनके पिता एक साधारण स्थिति के यहूदी थे, जो बाद में ईसाई हो गये थे। यूनीवर्सिटी में शिक्षा प्राप्त करने के बाद वह साहित्य-क्षेत्र में ही कार्य करने के इच्छुक थे, पर इनके उग्र विचारों ने सरकार की दृष्टि को अपनी ओर आकर्षित कर लिया था। फलतः कुछ ही दिन के बाद १८४३ ई० में इन्हें प्रशिया से पेरिस को निर्वासित कर दिया गया। यहाँ आकर इनसे 'प्राउडन' और 'इँगले' से परिचय हुआ। इँगले के साथ इनकी गाढ़ी मित्रता होगई और जीवन-भर क़ायम रही। इन्हें १८४५ में फ्रान्स भी छोड़ना पड़ा। वहाँ से ब्रूसेल्स गए, जहाँ १८४८ तक निवास किया। इसी बीच में इन्होंने १८४७ में 'मिज़र-डी-ला फ़िलासफ़िक' नामक पुस्तक प्रकाशित की। इसमें 'प्राउडन' के मन्तव्यों का ज़ोर के साथ खण्डन किया गया। फल-स्वरूप इनका फ्रान्स के साम्यवादियों से विच्छेद हो गया। 'ब्रूसेल्स' में ही 'इँगले' ने 'मार्क्स' का 'लीग ऑव दी जस्ट' से परिचय कराया। सन् १८४७ में इस संस्था का रूपान्तर होगया और इसका नाम 'लीग ऑव दी कम्यूनिस्ट्स' रक्खा गया। इस ही वर्ष दिसम्बर मास में इस लीग का दूसरा उत्सव हुआ। मार्क्स ने अपना विख्यात मेनीफ़ेस्टो इसी अवसर के लिये लिखा था। इस मेनीफ़ेस्टो के पूर्ण होते ही फ्रान्स

में विप्लव होगया, और मार्क्स को वहाँ जाना पड़ा। वहाँ 'लीग ऑव दी कम्यूनिस्ट्स' की सहयोगिता में उन्होंने एक क्रान्तिकारी पत्र निकाला। इस कारण वे वहाँ अधिक समय नहीं ठहर सके। इस पत्र में उन्होंने जो लेख लिखे थे, वे इस दृष्टि से बहुत महत्व-पूर्ण हैं कि प्रचलित साम्यवाद के कार्यक्रम का उनमें पूर्ण विवरण है। पर यह विप्लव अभीष्ट समय से पूर्व ही होगया था। इसलिये यह दब गया और घोर दमन आरम्भ होगया। सन् १८४९ में 'मार्क्स' लण्डन पहुँच गये। उनकी इस समय बड़ी दयनीय अवस्था थी। एक पैसा भी पास नहीं था। चारों ओर निराशा-ही-निराशा थी। लण्डन में वे मृत्यु तक रहे। उनकी मृत्यु १८९३ में हुई। इँगलैण्ड में उन्होंने अपने निर्वासन के ३० वर्ष बड़े धैर्य और साहस से काटे। वैसे तो इँगलैण्ड कभी-कभी आर्थिक सहायता देता रहता था, और कुछ दिनों यह 'न्यूयॉर्क ट्राइब्यून' के सम्वाददाता भी रहे, उन्हें बहुत ही ज़्यादा कष्ट झेलने पड़े। १८६० के लगभग उनकी आर्थिक दशा कुछ सन्तोषजनक हुई। उनके जीवन का यह समय बड़े कठोर परिश्रम और मानसिक व्यथा में कटा। इस समय उन्होंने 'डेस-कैपिटल' और अन्य कई निबन्धों की रचना की, जो सब बहुत महत्वपूर्ण है। उनका स्वास्थ्य अच्छा नहीं रहता था, और मिज़ाज भी चिड़चिडा होगया था। फिर भी किसी प्रकार वे अपने सहयोगियों के साथ निभाते रहे। इसके बाद इनकी मृत्य होगई। लाईबनेक्ट ने उनकी समाधि पर कहा था, कि उन्होंने सामाजिक

प्रजातन्त्र को एक बड़े गौरव की वस्तु बना दिया। इनके सिद्धान्तों के प्रचार से जो घटनायें घटित हुईं, उन्हें ठीक समझने के लिये थोड़ी-सी व्याख्या की आवश्यकता है।

मार्क्स-नीति को चार भागों में विभक्त किया जा सकता है। पहिला इतिहास का निष्कर्ष है; दूसरा इस निष्कर्ष के आधार पर समाज के एक विशेष प्रकार के विकास का साधन है, जिसका अवलम्बन मार्क्स का दल करेगा। तीसरा, बहुत प्रचण्ड आन्दोलनकारी होने पर भी मार्क्स ने बड़ी विचारशीलता से अपने आदर्श में और उसकी उपलब्धि के साधनों में साधन और साध्य का सम्बन्ध स्थापित कर दिया है, और चौथा, अर्थशास्त्र के विद्वान् होने के नाते से मार्क्स ने उसके सिद्धान्तों के आधार पर अपना मनतव्य स्थापित किया, और इस भाँति से अपने कार्य का समर्थन किया।

इन बातों का थोड़ा-सा वृत्तान्त यहाँ दे देना अनुचित न होगा। मार्क्स का यह दावा है कि किसी समय-विशेष में वर्तमान सामाजिक संगठन में परिवर्तन का मुख्य कारण उस समय का उत्पादन है। इसके अतिरिक्त जितनी और बातें हैं, उन्हें इनके अनुकूल ढँग के बन जाना पड़ता है। विधान, धर्म, राजनीति-आदि सब ही इससे अनुकूल ढँग के बन जाते हैं। इसलिये जिन लोगों का उत्पादन के साथ साधनों पर अधिकार होता है, वह बहुत शक्तिशाली होजाते हैं। बने हुए माल का कौन-सा भाग किसे मिलना चाहिये, इसे वह अपने लाभ की दृष्टि से निश्चय

करते हैं। वह समाज-संचालन के ऐसे नियम बनाते हैं, जिनसे उनका स्वार्थ-सिद्ध हो। इस शक्तिशाली सम्प्रदाय को जन-समाज के दु:ख-सुख का ध्यान नहीं होता। समाज में, इसलिए दो भेद हो जाते थे—एक शासक और दूसरे शासित। इन दोनों भेदों का संघर्ष समाज की व्यवस्था के परिवर्तन का मुख्य कारण है। इसका उदाहरण यह है कि जब ज़मींदारी-प्रथा निर्जीव होगई, तो व्यापारियों ने पुराने ज़मींदारों के हाथ से शक्ति छीन ली।

औद्योगिक क्रान्ति ने इस नई व्यवस्था को अक्षुण्ण बना दिया। इसी प्रकार अब इस सेठ-समुदाय और श्रमजीवियों में झगड़ा चल रहा है। झगड़े का कारण यह है, कि मज़दूर तो अपने परिश्रम का अधिक-से-अधिक मूल्य प्राप्त करना चाहता है, और सेठ उसे अल्प-से-अल्प मज़दूरी देना चाहते हैं। अब या तो मज़दूर भूखा मरे, या उसी मज़दूरी पर, जो मिल रही है, सन्तोष करे। मज़दूर को अधिक समय काम से अलग रहने की समाई नहीं होती, इसलिए दबना पड़ता है। यही कारण है, कि सेठों और श्रमजीवियों के हिताहित परस्पर-विरुद्ध हैं, और यही झगड़े का मूल कारण है। इस झगड़े का अन्त तभी हो सकता है, जब सेठ-समुदाय का अन्त हो जाय।

यह किस प्रकार सम्भव है? राज्य-व्यवस्था सेठों के अधिकार में है। सेठों के अत्याचारों से अपनी रक्षा करने के लिये श्रमजीवियों में संघटन की प्रवृत्ति उत्पन्न हुई, जिसके फल-स्वरूप 'ट्रेड-यूनियन' बने। इन संस्थाओं का काम श्रमजीवियों के हितों

की रक्षा करना है। धीरे-धीरे श्रमजीवियों को यह विदित होता जाता है, कि उनके कष्टों का एक-मात्र कारण वर्तमान व्यवस्था है, इसलिए जितने प्रकार के कार्यकर्त्ता श्रमजीवी हैं, उनके हितों में एक व्यापक समानता है। यदि वह अन्याय-युक्त व्यवस्था को बदलकर एक ऐसी व्यवस्था स्थापित कर दें, जिसमें उत्पादन के साधनों पर सब का समान अधिकार होजाय, तो उनका कष्ट दूर हो जायेगा। इसलिए उनमें और सेठ-समुदाय में झगड़ा होता है, और सेठ-समुदाय अपने अधिकारों की रक्षा करने में अच्छे और बुरे सभी उपायों का प्रयोग करता है। इनकी कठोरता का श्रमजीवी भी बदला लेते हैं। इस अवस्था मे श्रमजीवियों को राज्य-व्यवस्था पर अधिकार प्राप्त करके अपनी 'डिक्टेटरशिप' स्थापित कर देनी चाहिए। इस कार्य के सम्पादन में रक्तपात अवश्य होगा; क्योंकि कोई अपने अधिकारों को विना लड़े नहीं छोड़ता। श्रमजीवियों को इस परिवर्तन के समय में यह विशेष ध्यान रखना चाहिए, कि जहाँ तक हो सके, शीघ्र नई सत्ता स्थापित हो जाय। यह धारणा निर्मूल है, कि वर्तमान सत्ता के समर्थक समझाने-बुझाने से ही अपने अधिकारों को छोड़ने को राज़ी हो जायँ।

'मार्क्स' के आर्थिक विचार दो मूल सिद्धान्तों पर निर्धारित हैं। पहिला यह है, कि माल के उत्पादन का मुख्य श्रेय मज़दूरों को है, और इसलिए उससे जो कुछ लाभ होता है, वह न्याय की दृष्टि से मज़दूरों को मिलना चाहिये। यह लाभ एक प्रकार का

अतिरिक्त-मूल्य है। दूसरा सिद्धान्त यह है, कि पूँजीपति, जिनका इस अतिरिक्त-मूल्य पर कोई हक़ नहीं है, उसे हड़प कर जाते हैं, और मज़दूरों को इससे वञ्चित रहना पड़ता है।

'मार्क्स' के विचार में पूँजीवादी लोग नाना प्रकार का बहुत-सा माल तैयार करते हैं। चूँकि इस माल की मनुष्य-समाज को आवश्यकता है, इसलिए इसका एक प्रकार का मूल्य होता है, जिसे हम उपयोगिता-मूल्य कह सकते हैं। कुल व्यापार इस उपयोगिता-मूल्य पर निर्भर है। एक आदमी ऐसा ही माल बनाकर बेच सकता है, जिस माल की आवश्यकता है। यदि ऐसा माल न बनाया जाय, तो फिर माल का बिकना असम्भव है। यह सब को विदित है, कि माल कारख़ाने में तैयार होकर सीधा उपयोग करनेवालों के पास नहीं पहुँचता। माल तैयार होकर कई ऐसे आदमियों के हाथ में जाता है, जहाँ एक तरह के माल का दूसरी तरह के माल के साथ परिवर्तन होता है। इस कारण से हमें पता लगता है, कि माल के उपयोगिता-मूल्य के अतिरिक्त उसका परिवर्तन-सम्बन्धी मूल्य भी होता है। उपयोगिता मूल्य से तो केवल उपयोग करनेवाले का सम्बन्ध रहता है; माल बनानेवाले का और उन सब व्यापारियों का, जिनके हाथ में होकर माल उपयोग करनेवाले तक पहुँचता है, केवल परिवर्तन-सम्बन्धी मूल्य से सम्बन्ध रहता है। आजकल परिवर्तन-सम्बन्धी मूल्य ही बाज़ार-भाव का आधार है, और इसके नाप के लिए सिक्कों से काम लिया जाता है। अब देखना यह है, कि

परिवर्तन-सम्बन्धी मूल्य किस प्रकार निश्चित् किया जाता है।

'मार्क्स' का मत है, कि उपयोगिता-मूल्य एक वस्तु के विशेष गुणों पर निर्भर है; क्योंकि इन्हीं गुणों के कारण वह वस्तु उपयोग के योग्य है। परिवर्तन-सम्बन्धी मूल्य के निश्चय में इन गुणों का कोई स्थान नहीं है। उसमें तो केवल मात्रा का महत्व है। यदि किसी को एक पुस्तक या एक लेखनी की आवश्यकता है, तो जो मूल्य देकर हमें यह चीज़ें मिल सकती हैं, वह परिवर्तन-सम्बन्धी मूल्य है।

'मार्क्स' का यह कहना है, कि श्रमजीवियों के काम का वास्तविक मूल्य उनकी मज़दूरी से कहीं अधिक है। पर श्रमजीवियों को अपना पेट भरने के लिए जो-कुछ भी मज़दूरी मिले, उस पर काम करना अनिवार्य है। इसलिए चाहे जितना भी अधिक लाभ हो, सब मालिकों के जेबों में जाता है। इस अन्याय को मिटाने के लिए साम्यवाद की आवश्यकता है। इस आदर्श की पूर्ति में अर्थवादियों की कमज़ोरियाँ सहायक हैं। श्रमजीवियों की दरिद्रता में वृद्धि, धन पर अल्पसंख्यक लोगों का अधिकार, छोटी पूँजीवालों का बाध्य होकर बड़ी पूँजीवालों पर निर्भर होना, व्यवसाय का क्षेत्र सारे संसार में विस्तृत होना, और इससे संसार-भर के श्रमजीवियों में संघटन होना;—यह सब अर्थवादी व्यक्तिगत सम्पत्ति के विध्वंस के लक्षण हैं। "कुल धन कुछ आदमियों के अधिकार में हो जाने से" मार्क्स ने लिखा है—"उत्पादन के साधनों में रुकावट पैदा हो जाती है………।"

उत्पादन के साधनों का केन्द्रित होना और मज़दूरों का संघटन, यह दोनों बातें एक सीमा पर पहुँचने के पश्चात् पूँजीवाद के बन्धनों को तोड़ देती हैं। अन्याय का अन्त हो जाता है।"

साम्यवाद का इतिहास अब लगभग ६२ वर्ष पुराना हो चुका है। यह दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। पहिला भाग १९२४ में, जब महायुद्ध आरम्भ हुआ, समाप्त हो गया। इस समय में केवल आन्दोलन-कार्य हुआ। योरोप के सब देशों में इसके अनुयायियों का दल अल्प-संख्यक था। जर्मनी में यह दल अपेक्षाकृत अधिक बलशाली था, और वहाँ की जनता वर्तमान राज्य-व्यवस्था से तंग आकर इसकी ओर झुकी थी, पर जनता की यह प्रगति इसके सिद्धान्तों में विश्वास के कारण नहीं थी। उस समय तक किसी भी देश मे राज्य-शक्ति इस दल के हाथ में नहीं आई थी। इसके अनुयायी अपने-को राष्ट्रीयता के पंजे से नहीं छुटा सके थे, और विप्लव के विषय में सामान्य धारणा यह थी, कि उसका दूर-भविष्य में होना सम्भव है।

महायुद्ध ने स्थिति को बदल दिया। इसने वर्तमान सत्ता का पर्दा फ़ाश कर दिया। पहिले जो लोग शान्तिवाद से सन्तुष्ट थे, वे अब साम्यवाद का दम भरने लगे। रूस में विप्लव की घटना, रूस की राज्य-व्यवस्था पर लेनिन और बोल्शविक का अधिकार, कुल योरोप के विरोधी होते हुये भी बोल्शविकों द्वारा इस नई सत्ता की स्थापना और रक्षा,—इन बातों ने एक नया युग उपस्थित कर दिया। इसने यह सिद्ध कर दिया कि

मार्क्स का सिद्धान्त कार्य-रूप में परिणत हो सकता है। जर्मनी की पराजय के पश्चात् साम्यवाद ने आक्रमणकारी युद्ध प्रारम्भ कर दिया। अमेरिका के अतिरिक्त हर सभ्य देश की व्यवस्थापिका-सभाओं में यह मुख्य विरोधी-दल बन गया। इटली और स्पेन में व्यवस्थापिका-सभा का अन्त हो गया, पर उसके स्थान पर पूँजीपतियों की 'डिक्टेटरशिप', जिसकी मार्क्स को आशंका थी, स्थापित हो गई। प्रत्यक्ष में योरोप में समाज के अन्तर्गत भेद-भाव ने उग्र रूप धारण कर लिया है, और मार्क्स के कथनानुसार उसके परिणाम-स्वरूप साम्यवाद की विजय होगी। अमेरिका और अन्य दूरस्थ पूर्वीय देशों के विषय में इन लोगों का यह कहना है कि समय चाहे जितना अधिक लग जाय, पर अन्त में वहाँ भी इसकी जड़ जमेगी।

मार्क्स की कही हुई सब बातें पूरी तो नहीं हुईं, पर इतना अवश्य है कि स्थिति बिलकुल बदल गई है। अब इस बात पर आन्दोलन हो रहा है कि समाज में भेद-भाव मिट जाना चाहिये। अब या तो इन लोगों को इतनी अधिक रिआयतें दी जायँ, कि जितनी पहिले नहीं दी गई थीं, या वर्तमान अवस्था पर पूँजीवादियों के अधिकार का अन्त हो जाय। कुछ बातों पर समझौता हो जाना भी सम्भव है—यह मार्क्स ने स्वीकार किया है। पर सब बातों को देखते हुये कोई अब यह नहीं कह सकता, कि विप्लव का होना असम्भव है, या किसी भी माँग का निरन्तर विरोध करने से विप्लव न होगा। साम्यवाद के इतिहास पर

इन सब बातों को ध्यान में रखते हुये हमें दृष्टि डालनी चाहिये।

'फ़र्स्ट इण्टर्नेशनल' की पहली बैठक २९ सितम्बर सन् १७६४ में 'लॉङ्ग एकर' (Long Acre) में हुई थी। उस समय उसमें जॉर्ज हॉवेल, ओडगर, मेज़िनी-आदि मनस्वी सम्मिलित हुये थे। सब लोगों के अपने भिन्न-भिन्न विचार थे। केवल मार्क्स को आरम्भ ही से इस बात का ध्यान था कि सफलता के लिए सब देशों के मज़दूरों में सहयोग होना चाहिये, और सब को मिलकर श्रमजीवियों की मुक्ति के लिए यत्न करना चाहिये। इस संस्था में आरम्भ में लोग इन विचारों को सुनकर चौंके। यह होते हुये भी सन् १८६६ में इसकी जेनेवा की बैठक से यह प्रतीत हुआ कि इसका अस्तित्व व्यर्थ नहीं है। साथ ही यह बात भी है कि इसमें अभी से परस्पर मतभेद का विष पैदा हो गया था; जिसके कारण ही इसका अन्त होगया। ब्लैंकुई और उसके अनुयायी पृथक् कर दिये गये। इसमें इङ्गलैण्ड के १७ ट्रेड यूनियन सम्मिलित हो गये, और सन् १५६६ की 'ट्रेड यूनियन कॉङ्ग्रेस' ने सब संकलित संस्थाओं को सभासद् होने की अनुमति दे दी। इसका कार्य केवल प्रस्ताव पास करना था। पर धूम इसकी इतनी मच गई कि योरोप की पुलिस इससे बहुत सतर्क रहने लगी। इससे योरोप के अन्य देशों मे ट्रेड यूनियन-आन्दोलन की ख़ासी उन्नति हुई। ख़राबी इसमें यह थी कि भिन्न-भिन्न दलों के भिन्न-भिन्न आदर्श थे। कुछ तो स्पष्ट रूप से क्रान्ति उत्पन्न करना चाहते थे, और कुछ केवल ट्रेड

यूनियन-नीति का विकास। एक और बात यह थी कि किसी देश में जागृति अधिक थी, और किसी में कम। एक-दूसरे से इतने भिन्न विचार रखनेवाले का कभी एक आदर्श नहीं हो सकता।

सन् १८६८ के बाद यह विदित हो गया कि यह संस्था अधिक समय तक जीवित नहीं रह सकती। जर्मनों ने सम्मिलित होकर फ्रान्सवालों का विरोध किया, जो 'प्राउडन' के विचारों के आधार पर कार्य करना चाहते थे। इसके बाद ही बैकुनिन और उसके साथी इसमें सम्मिलित हुये। यह व्यक्ति था तो बड़ा साहसी और जोशीला, पर इसमें विचारशीलता और विवेक का अभाव था। मार्क्स के साथ इसकी नहीं पटी। इस समय प्रकट रूप से तो 'इण्टरनेशनल' उन्नति कर रही थी, पर मार्क्स और बैकुनिन की प्रतिकूलता सब पर प्रकट हो गई थी। उनके आदर्श में प्रतिकूलता थी; साधनों में भी प्रतिकूलता थी। मार्क्स का आदर्श था कि सञ्चालन-सूत्र केन्द्रीय संस्था के हाथ में रहे, और वर्तमान व्यवस्था को नष्ट किया जाय, बैकुनिन यह चाहता था कि 'इण्टरनेशनल' स्वाधीन संस्थाओं का सङ्घ बन जाय, और हर जगह अराजकता का प्रचार किया जाय। इन दोनों की प्रतियोगिता ने इतना उग्र रूप धारण किया कि कुछ देश एक के पक्ष में हो गये और कुछ दूसरे के। सन् १८७२ में यह सब देखकर मार्क्स ने इसका मुख्य कार्यालय न्यूयॉर्क में स्थापित कर दिया। इस परिवर्तन से इसका योरोप से संसर्ग

बहुत कम हो गया। यह स्थिति कुछ दिन और चलती रही और १८७६ में इसकी बैठक जेनेवा में हुई। इसके बाद इसकी जनरल कौंसिल तोड दी गई। और इसका अन्त होगया।

इसके कार्य के दो फल हुए। एक तो योरोप के श्रमजीवियों में साम्यवाद के प्रति श्रद्धा उत्पन्न होगई। सन् १८६९ की कांग्रेस के पश्चात् जब भूमि पर समान अधिकार के पक्ष में प्रस्ताव स्वीकार हुआ, उस समय नर्म और गर्म दलों का अन्तर स्पष्ट होगया। एक तो केवल शान्तिपूर्ण परिवर्तन का इच्छुक था, पर दूसरा क्रान्ति पर तुला हुआ था। यह अन्तर 'इन्टर्नेशनल' के प्रभाव से उत्पन्न हुआ था। इसकी उपयोगिता के विषय में मत-भेद सम्भव है, पर यह स्वीकार करना पड़ेगा कि इसका प्रभाव सब देशों पर पड़ा। यह मार्क्स की आन्दोलन-शक्ति का द्योतक है।

इसका दूसरा फल 'पेरिस कम्यून' है। यह कम्यून रूस के विप्लव का पूर्वाभास था। इसके विफल होने का कारण यह था, कि अभी इसके लिए ठीक समय नहीं आया था और इसके सफल बनाने के लिए उस क्रान्तिकारी क्रियाशीलता का प्रयोग नहीं किया गया, जो कठिन-से-कठिन काम को भी पूरा कर देती है। मार्क्स इससे सहमत नहीं था, फिर भी उसने इसका इतिहास बड़ी गम्भीरता से लिखा है। उसका यह लेख इन्टर्नेशनल की ओर से प्रकाशित हुआ। उस लेख का तत्त्व समझने के लिए यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि 'इन्टर्नेशनल' की दृष्टि में फ्रांस और जर्मनी का युद्ध पुरानी शत्रुता के कारण हुआ। इसमें

केवल यह महत्व था कि इसमें केवल पूँजीपतियों के हित की दोनों देश चेष्टा कर रहे थे; श्रमजीवियों का किसी को ध्यान भी न था। 'इन्टर्नैशनल' ने फ्रांस के ट्रेड-यूनियनों को एक शक्तिशाली दल बना दिया था, और यह विश्वास दिला दिया था कि विप्लव के लिए सब से अच्छा अवसर वह है, जब एक देश युद्ध में पराजित होजाय।

यह स्वीकार करते हुए भी कि 'कम्यून' अपने मनोरथ में सफल नहीं हुई, यह अवश्य मानना पड़ेगा कि यह निरर्थक भी सिद्ध नहीं हुई। इससे पहले भी विप्लव हो चुके थे, और उनका भी कोई विशेष फल नहीं हुआ था। सन् १८७१ का विप्लव तो उस समय के आर्थिक संघटन को ही छिन्न-भिन्न करने के लिए हुआ था। चूँकि इस विप्लव का प्रभाव व्यक्तिगत सम्पत्ति की सत्ता के विरुद्ध था, इसलिए इसके दबाने के लिए बड़ी बर्बरता और कठोरता का उपयोग किया गया। शायद इतनी अधिक कठोरता कभी पहिले नहीं की गई थी। क्रान्तिकारी साम्यवादियों के लिये 'कम्यून' ने ६ मन्तव्य स्थिर किये। पहिले तो इस बात पर ज़ोर दिया गया कि राज्य की वर्तमान सत्ता पर अधिकार कर लेना काफी नहीं है; इसे विध्वन्स करके इसके स्थान पर दूसरी सत्ता का निर्माण किया जाना चाहिये। सेना-विभाग श्रमजीवियों के अधिकार में आजाना चाहिये;—सामयिक शासन से उसका कोई सम्बन्ध न रह जाय। सेना में जब तक क्रान्तिकारी विचार न फैला दिये जायँगे, तब तक उसकी ओर से निश्चिन्त

नहीं रहा जा सकता। तीसरी बात यह है कि पुराने अधिकारी सब पृथक् कर दिये जायँ, और उनके स्थान पर ऐसे आदमी नियुक्त हों, जिनका निर्वाचन विजयी दल करे। केवल अधिकार प्राप्त कर लेना ही काफ़ी नहीं है, इसके बाद एकाधिपत्य स्थापित होना चाहिए। पूँजीपतियों को हर प्रकार दबाया जाय, और जब तक पूरी सफलता न प्राप्त होजाय, बड़ी कड़ाई का व्यवहार किया जाय। इस परिवर्तन-काल में प्रजातन्त्र की स्थापना असम्भव है। इसका फल यह होगा कि अधिकार उस दल के हाथों से निकल-कर, जो अपने को साधारण जन-समाज से उच्च समझता है, एक ऐसे दल के हाथों में आ जायेगा, जो जनता का सेवक बनके काम करेगा। क्रान्तिकारी-दल का सिद्धान्त ही यह होना चाहिये कि वह अपने को जनता का सेवक समझे। 'व्यवस्थापिका सभा' की नीति का अन्त कर देना चाहिये। उस स्थान पर एक ऐसी संस्था क़ायम कर दी जाय, जो व्यवस्था और शासन दोनों कार्य एक ही साथ करे। जहाँ व्यवस्थापिका-सभा होती है, वहाँ वास्तव में काम कैसे होता है, इस विषय में लेनिन ने कहा था कि असली कार्य तो भिन्न-भिन्न विभाग करते रहते हैं, और पार्लिया-मेण्ट भोले-भाले लोगों को बातों से बहलाया करती है। इसलिए इसके स्थान पर ऐसी संस्थाएँ होनी चाहियें, जिनके अधिकारी श्रमजीवी जनता के हितों की रक्षा करनेवाले हों।

सन् १८७१ से सन् १९१४ तक श्रमजीवियों का दल शान्ति-पूर्वक अपने संघटन-कार्य में लगा रहा। यह सब ने समझ लिया

था कि वर्तमान सत्ता बहुत शक्तिशाली है, और इस पर विजय पाने के लिए बहुत तैयारी करनी पड़ेगी। विप्लव का ध्यान कुछ समय के लिए छोड़ दिया गया, और मज़दूर-दल जहाँ-जहाँ व्यवस्थापिका-सभाओं में अच्छी संख्या में पहुँच गया, वहाँ इस बात का यत्न करने लगा कि किसी प्रकार श्रमजीवियों के कष्ट कम हो जायँ। अर्थवाद 'साम्राज्यवाद' के रूप में अपनी शक्ति बढ़ाने लगा और उसकी उन्नति को देखकर यह विदित होने लगा कि अभी उसका अन्त दूर है। हर जगह एक प्रकार का सुधारवादी साम्यवाद फैल गया और कहीं-कहीं इसके समर्थक यहाँ तक राज़ी होगए कि अर्थवादियों के साथ सहयोग करें। सन् १९१४ की लड़ाई के समय साम्यवाद की दशा बहुत निर्बल थी।

सन् १८७६ से सन् १९१४ तक जितनी संस्थाओं का जन्म हुआ, वह सब सुधारवादी साम्यवाद के ढँग की थीं। 'इन्टर्नेशनल' का पुनर्जन्म सन् १८८९ में हुआ। इसका काम केवल कांग्रेस करना और उसमें प्रस्ताव पास करना था। इसके सभासद राष्ट्रीय साम्यवादी दल के थे। साम्यवाद तो इनमें केवल नाम-मात्र के लिये था, और राष्ट्रीयता के भाव इतने प्रबल थे कि परस्पर सहयोग असम्भव था। जर्मनी के सामाजिक प्रजातन्त्रवादियों का इस समय प्रभुत्व था। यह दल कहने को तो मार्क्स का अनुयायी था, पर वास्तव में यह युद्ध के बहुत विरुद्ध था, और चाहता था, कि किसी प्रकार युद्ध शीघ्र ही समाप्त हो जाय, और इसी समय अर्थवाद की शक्ति को नष्ट कर दिया जाय। यह

प्रस्ताव कोरा प्रस्ताव ही था; क्योंकि इसे कार्य-रूप में परिणत करने के लिये किसी प्रकार की तैयारी नहीं की गई, और जब कार्य करने का समय आया तो वह लोग कुछ भी नहीं कर सके। इन्होंने प्रस्ताव तो यह स्वीकार किया कि युद्ध बहुत ही हानिकारक है, पर इसके कुछ प्रमुख नेता अर्थवादियों के साथ युद्ध में सहयोग तक कर रहे थे।

साम्यवादियों की दशा इससे भिन्न थी। उनकी दृष्टि में युद्ध केवल अर्थवादियों की प्रतियोगीता का फल था, और अर्थवाद साम्राज्यवाद का रूप धारण करके अपने जीवन की अवधि बढ़ाने की चेष्टा कर रहा था। साम्यवादियों की दृष्टि में सब अर्थवादी एक-से थे; चाहे उनमें से युद्ध में कोई जीते या हारे। उनका ध्येय तो केवल यह था कि युद्ध के कारण जो अनुकूल स्थिति उत्पन्न हो गई थी, उसकी ओर जनता का ध्यान आकर्षित करें। अर्थवादियों की बनाई हुई राज्य-व्यवस्था अब बहुत निर्बल हो चुकी थी, और उसका विध्वंस करना वर्तमान स्थिति में दुस्तर नहीं था। यह साम्यवादियों के लिये बड़ा ही अनुकूल अवसर था, और इससे उन्हें पूरा लाभ उठाना चाहिये। मार्क्स के शब्दों में "अर्थवाद ने अपनी क़ब्र खोद ली थी। क्या श्रमजीवी-दल इसलिये प्रस्तुत है कि उसे दफ़न करके राज्य-व्यवस्था पर अधिकार कर ले?"

युद्ध के समय में दो सभाएँ हुईं। एक 'ज़िमरावल्ड' में सन् १९१५ में, और दूसरी 'काइन्थल' में सन् १९१६ में। इन

अवसरों पर यह प्रकट हुआ कि साम्यवाद में दो दल उत्पन्न हो गए हैं, और उन में विरोध बढ़ता जा रहा है। 'ज़िमरवाल्ड' की सभा में युद्ध का घोर विरोध किया गया और शान्ति स्थापित करने की परमावश्यकता पर ज़ोर दिया गया। जो साम्यवादी युद्ध में किसी प्रकार का भाग ले रहे थे, उनकी निन्दा की गई। इस बात पर ज़ोर दिया गया कि शान्ति स्थापित करने में कोई इस प्रकार की शर्त न लगाई जाय कि एक देश दूसरे देश को अपना कुछ भाग या हर्जाना दे। सब देशों के समान हक़ क़ायम रहें। केवल एक स्थान पर यह संकेत किया गया है कि संसार-भर के श्रमजीवियों को संगठित होकर कार्य करना चहिये। इसके अतिरिक्त साम्यवाद की दृष्टि से और कोई महत्वपूर्ण प्रस्ताव स्वीकृत नहीं हुआ। पर 'कैन्थल' में लेनिन की उपस्थिति के कारण वातावरण दूसरा ही होगया। जब तक अर्थवाद जीवित है, युद्ध का अन्त नहीं हो सकता। इसका केवल एक-मात्र साधन यह है कि जनता राजनैतिक शक्ति पर अधिकार कर ले और सम्पत्ति पर सब का समान अधिकार हो जाय। इसका उपाय यह है कि अर्थवाद और उसके युद्ध का घोर विरोध किया जाय और ऐसा यत्न किया जाय, कि अर्थवादियों में और जनता में विच्छेद होजाय। दूसरी इन्टर्नेशनल की नीति की बहुत निन्दा की गई। इसकी कार्यवाही से यह विदित हुआ कि कोई महत्वपूर्ण घटना या प्रभावशाली नेता सहसा इस दल में जान फूँककर इसे सजीव बना सकता है।

इस तरह की घटना 'रूस' का विप्लव था—और नेता लेनिन। यह विप्लव एक आकस्मिक घटना नहीं थी। युद्ध-काल में ज़ारशाही की अयोग्यता और कुव्यवस्था ने इसका बीज बो दिया था। सन् १९१७ के मार्च मास में क्रान्ति ने सर उठाया। उस समय ज़ारशाही ने एक घातक ग़लती की—उसने यह परिणाम निकाला कि रूस की जनता युद्ध के विरुद्ध नहीं है, केवल यहाँ की व्यवस्था में कुछ परिवर्तन कर देने से शान्ति स्थापित हो जायगी। बोल्शविस्ट-दल ने, जिसका नेता लेनिन था, स्थिति को ठीक समझ लिया। इस दल के लोगों ने तुरन्त शान्ति स्थापित करने का बीड़ा उठाया और इसलिये सेना और जनता इनके पक्ष में आ गई। सन् १९१७ के नवम्बर मास में राज्य-शक्ति पर ऐसे लोगों का अधिकार हो गया, जो मार्क्स के विचारों से सहमत थे और जो वर्षों के अनुभव से पूरे क्रान्तिकारी हो गए थे। रूस में इन लोगों ने 'डिक्टेटरशिप' स्थापित कर दी। यह 'डिक्टेटर-शिप' बहुत शक्तिशाली होगई और इसका कारण योरोप के दूसरे राज्यों की बुद्धि-रहित नीति थी। इन राज्यों को 'रूस' का युद्ध से अलग हो जाना बहुत बुरा लगा और साथ ही वह साम्य-वादियों के विचारों को सुनकर बहुत चिन्तित हो गए। इसलिए या तो यह स्वयं ही उसके विरुद्ध युद्ध करने लगे, या किसी दूसरे देश को धन का प्रलोभन देकर इससे लड़वा दिया। उनकी इच्छा इस नई सत्ता को विध्वंस कर देने की थी। पर फल इसका उलटा हुआ। इस नीति ने डिक्टेटरशिप को एक राष्ट्र का शासक

बना दिया। दूसरे, युद्ध में सम्मिलित होनेवाले देशों की जनता भी युद्ध से उकता गई थी, वह भी रूस के इस नये दल की ओर आकर्षित हुई। पर यहाँ के राज्याधिकारियों ने इस ओर ध्यान तक नहीं दिया। यह एक बहुत बड़ी ग़लती थी। साम्यवादियों के प्रति शत्रुता का व्यवहार करके इन्होंने अपना वास्तविक रूप, जो साम्राज्यवादिता थी, प्रकट कर दिया। उधर रूसवालों ने देश के गुप्त समझौतों को प्रकाशित कर दिया, जिससे पश्चिमी योरोप में एक असन्तोष की लहर उठ पड़ी, जिसे प्रेसीडेन्ट विलसन का आदर्शवाद भी नहीं दबा सका। 'स्टॉकहॉम' में साम्यवादियों की सभा हुई। इसमें इङ्गलैण्ड, जर्मनी और इटली के प्रतिनिधि नहीं सम्मिलित हो सके; क्योंकि इन देशों के राज्य की ओर से उन्हें ऐसा करने की आज्ञा नहीं मिली। इस सभा में साम्यवादियों का परस्पर मतभेद और भी बढ़ गया। इसमें एक नए इन्टर्नेशनल की स्थापना करने का निश्चय किया गया। जब 'आर्मिस्टिस' (सन्धि) होने पर इस के लिये अनुकूल समय आया तो यह पता लगा कि सुधारकों और क्रान्तिकारियों ने अपना अलग-अलग संगठन बना लिया है। सुधारकों ने तो दूसरी इन्टर्नेशनल को अपना लिया, इनका आदर्श तो साम्यवाद ही था, पर यह उसे शान्तिमय उपायों से प्राप्त करना चाहते थे। इसका काम केवल प्रस्ताव पास करना और मौखिक विरोध करना था। 'मास्को'-वालों ने तीसरी इन्टर्नेशनल आरम्भ कर दी, जो अब भी वर्तमान है। इसका ध्येय

संसार-व्यापी वि करने के पश्चात् बोल्शेविकों ने जो कुछ भी नहीं है। इसका का नी त्रुटियों को स्वयं स्वीकार किया है। और इस का संचालन मॉस लगता है। आरम्भ में उन्होंने बिना कार्य-कर्ताओं को नियमानुसार नों पर सब को समान अधिकार इसके आदर्श-नियम और कार्यक्रम भूमि-आदि सभी पर उन्होंने हैं। इसमें कितनी शक्ति है? यह कितने काम कर ली हों, के प्रश्नों पर मतभेद स्वाभाविक है। इसका अस्तित्व संसार के सन्मुख इस बात का प्रमाण है कि आदर्श की प्राप्ति का साधन केवल शान्ति-मय आन्दोलन ही नहीं है।

बहुत-से लोग बोल्शेविकों के विषय में यह धारणा रखते हैं कि इन लोगों का कोई नियमित सिद्धान्त ही नहीं है,—जब जैसा अवसर देखा, वैसा ही काम करने लगे। कुछ लोगों की यह भी धारणा है कि यह लोग जर्मनी से धन लेकर यह सब प्रपंच कर रहे हैं। यह बातें निराधार हैं। इनका दल मार्क्स के सिद्धान्तों पर कार्य कर रहा है। इनके नाम से केवल यह ज्ञात होता है कि १९०३ में जो कॉन्फरेन्स ब्रूसेल्स और लण्डन में हुई थी, उसमें इनकी सम्मति को बहुमत ने स्वीकार किया था। इस दल के बहुत-से नेता लेनिन और ट्रॉट्स्की-जैसे माने हुए क्रान्तकारी हैं, जिन्हें ज़ारशाही ने लम्बी-लम्बी सज़ाएं दी थीं। इन लोगों ने अपना जीवन इसी आदर्श की प्राप्ति के लिये समर्पित कर दिया है। इन्होंने भले ही कठोर साधनों का प्रयोग किया हो, भले ही इन्हें संयोग-वश सफलता बहुत अधिक हुई हो पर इन

बना दिया। दूसरे, युद्ध में सम्मिलित होनेवाले देश नहीं है। इनकी
युद्ध से उकता गई थी, वह भी रूस के इस समय केवल यही एक
आकर्षित हुई। पर यहाँ के राज्याधिकारियों ता था और उसका
तक नहीं दिया। यह एक बहुत बड़ी थ ही यह लोग किसी ऐसे
के प्रति शत्रुता का व्यवहार करके करने को भी तय्यार नहीं थे,
जो साम्राज्यवादी थी. आतंक सुधार हो। यह जनता का सह-
योग प्राप्त करने के लिए, जैसे भी हो सके, युद्ध से अलग हो
जाने को तत्पर थे। रूस की जनता युद्ध से थककर उदासीन हो
गई थी—यह लोग युद्ध से यह समझकर आरम्भ ही से उदासीन
थे, कि वह केवल अर्थवादियों का मामला है। साथ ही यह बात
भी ध्यान में रखने के योग्य है कि ज़ारशाही कुव्यवस्था का
शिकार हो रही थी; उसमें दृढ़ता नहीं रह गई थी। इन सब
बातों से उनकी सफलता में आश्चर्य की कोई बात नहीं है।
सम्भव था कि कुछ समय बाद वह अपनी कमज़ोरियों के कारण
अपना अधिकार खो बैठते, पर मित्र-राष्ट्रों ने बिना सोचे-समझे
उन्हें कुचल डालने की चेष्टा कर डाली और इसके कारण इनकी
जड़ भली प्रकार जम गई। मित्र-राष्ट्रों की इस कार्रवाई ने रूस-
भर में राष्ट्रीयता के भाव जागरित कर दिये। आन्तरिक संग्राम
और बाहरी आक्रमण के कारण बोल्शेविकों को मौक़ा मिल गया
कि वह स्थिति को समझ लें और अपनी ग़लतियों को ठीक कर
लें। उनकी जीत तो ज़ारशाही की कमज़ोरी के कारण हुई और
विदेशियों के आक्रमण ने इस जीत को स्थायी बना दिया।

अधिकार प्राप्त करने के पश्चात् बोल्शेविकों ने जो कुछ भी काम किया, उसमें अपनी त्रुटियों को स्वयं स्वीकार किया है। और यह उनकी महानता का लक्षण है। आरम्भ में उन्होंने बिना सोचे-विचारे उत्पादन के साधनों पर सब को समान अधिकार देने का यत्न किया। कारख़ाने, भूमि-आदि सभी पर उन्होंने सब को अधिकार देने की चेष्टा की। दक्ष काम करनेवालों के प्रति उदासीनता का व्यवहार होने लगा और साधारण व्यक्ति, यदि वह क्रांति का समर्थक है, तो महत्व की वस्तु होगया। 'डिक्टेटरशिप' स्थापित होगई और यदि किसी ने ज़रा भी विरोध किया, तो उसे बड़ी कठोरता से कुचल दिया गया। धर्म की धज्जियाँ उड़ाई जाने लगीं और स्कूलों में पढ़ाई केवल साम्यवाद के प्रचार तक सीमित कर दी गई। निर्वाचन में ऐसे हथकण्डों से काम होने लगा कि जिन्हें अमरीका के सेठ भी देखकर आश्चर्य करें।

उच्च और मध्य श्रेणी के लोगों के साथ घृणा का व्यवहार होने लगा। इस 'डिक्टेटरशिप' ने अपना आतङ्क चारों ओर जमा दिया और आज्ञाओं का उल्लङ्घन करनेवालों को, चाहे वह अपने ही दल के क्यों न हों, बड़ा कठोर दण्ड मिलने लगा। इन लोगों को वास्तव में बड़ा दुस्तर कार्य करना पड़ रहा था। युद्ध ने रूस को अस्त-व्यस्त कर दिया था; आन्तरिक युद्ध, महामारी और दुर्भिक्ष के कारण चारों ओर त्राहि-त्राहि मच रही थी। इन सब विपत्तियों से देश का पीछा छुटाने के लिये कटु

साधनों का प्रयोग करना अनिवार्य था; बिना ऐसा किये वहाँ की व्यवस्था सुधारना असम्भव था।

बोल्शेविस्टों ने समाज का नये रूप से सङ्गठन कराना चाहा। ज़मींदारी-प्रथा को मिटा दिया गया। किसानों का ही भूमि पर अधिकार होगया। यह अधिकार मिलने के बाद रूस में किसानों की दशा लगभग वैसी ही है, जैसी दशा पूर्वीय योरोप की कुछ नई कृषक-रियासतों की है। रूस के कृषक साम्यवाद की ओर अधिक आकृष्ट होंगे, इस बात की कोई विशेष सम्भावना प्रतीत नहीं होती। व्यक्तिगत व्यवसाय पहिले तो बिलकुल बन्द होगया था, पर अब फिर जीवित होगया है, और लाभ के साथ माल बनाने के लिये जो उपाय किये जा रहे हैं, वह भी कुछ दूसरे देशों से मिलते-जुलते हैं। १६१८ में यह आन्दोलन बड़े ज़ोर के साथ हुआ था कि सब की मज़दूरी बराबर हो। अनुभव से यह बात असम्भव सिद्ध हुई। इसके स्थान पर यह नियम बनाया गया, कि जो जितना अधिक काम करे, उसे मज़दूरी के अतिरिक्त उतना अधिक बोनस मिले। बड़े उद्योगों (Industries) ने सङ्घों का रूप धारण कर लिया, जिनका सङ्गठन अमेरिका और इङ्गलैण्ड की रेलवे-कम्पनियों से मिलता-जुलता हुआ है। छोटे कारख़ाने पट्टे पर दे दिये गये। 'करेन्सी' फिर-से स्थापित होगई, और आय-व्यय को बराबर करने के लिये कर भी लगा दिये गये।

हाँ, कुछ बातें ऐसी हैं, जो जैसी साम्यवादियों ने आरम्भ

की थीं, वैसी ही वर्तमान हैं—उनमें परिवर्तन नहीं हुआ है। दूसरे देशों के साथ व्यवसाय का अधिकार राज्य के हाथ में है। बैंकिंग-प्रथा पर भी उसका अधिकार है।

यह हम ऊपर कह चुके हैं, कि बड़े औद्योगिक धन्धों के सञ्चालन करने के लिए ट्रस्ट बना दिये गए हैं। इन ट्रस्टों के बोर्ड बनाये जाते हैं। इन बोर्डों की नियुक्ति 'पीपुल्स-एकॉनोमी' की केन्द्रीय सभा करती है। इस प्रकार इस काउन्सिल का अधिकार व्यवसाय पर पूरे तौर से रहता है। यहाँ के ट्रेड-यूनियनों को बहुत दबकर रहना पड़ता है; क्योंकि इनके लिए बड़ा कठोर क़ानून बन गया है। इस दशा में यह कहना अनुचित न होगा, कि बोल्शेविकों को विवश होकर कुछ बातों का प्रबन्ध अर्थवादियों के ही ढँग पर करना पड़ा। पर इन पर यथा-साध्य शासन का कड़ा नियन्त्रण रक्खा गया है। इस विषय में बोल्शेविकों का यह उत्तर है, कि यह बातें केवल वर्तमान परिवर्तन-काल तक ही सीमित रहेंगी। एक बार साम्यवाद के सिद्धान्तों का पूरा प्रचार हो जाने पर,—विशेषकर रूसी युवकों में—उन्नति की गति में तीव्रता आ जायेगी। यह विषय वास्तव में विवादग्रस्त है। रूस में कृषकों की प्रधानता है, और यह लोग दूसरों के मोहताज नहीं हैं। यदि यह लोग ग्रामों में संगठन करके अपनी राजनैतिक शक्ति बढ़ाने की चेष्टा करें, तो इसमें आश्चर्य की कोई बात न होगी। यदि कहीं इन लोगों का ध्यान इस ओर चला गया, तो साम्यवाद की गति में शिथिलता आ जाना अनिवार्य है।

इतना तो मानना ही पड़ेगा कि बोल्शेविकों ने देश को ज़ारशाही के पञ्जे से छुड़ाया। यदि कोई यह कहे कि बोल्शेविकों का कठोर नियंत्रण तो ज़ारशाही से भी बढ़ा-चढ़ा है, तो यह तो स्वीकार ही करना पड़ेगा कि इस समय की कठोरता का लक्ष्य जन-समाज को लाभ पहुँचाना है। इस बात के चिन्ह भी हमें वहाँ मिलते हैं। जिन लोगों ने इन दिनों रूस की यात्रा की है, उन्होंने वहाँवालों की दशा देखकर अनुभव किया है कि जनता में एक प्रकार की मानसिक विशालता उत्पन्न होगई है। श्री फ़ार्बमैन लिखते हैं—"पिछले कुछ वर्षों की घटनाओं ने रूसियों में अद्भुत् कार्यशीलता, आत्म-सम्मान और उन्नति की आकांक्षा उत्पन्न करदी है। सुस्ती और उदासीनता का तो निशान भी बाक़ी नहीं है। मॉस्को पहुँचकर कुछ ही काल में एक नवागन्तुक को इस परिवर्तन का ज्ञान होजाता है।" वहाँ की जनता के मन में अब भविष्य आशापूर्ण हैं—अपने कर्तव्य-पालन के लिये जोश है। माना कि वहाँ जनता दुखी और दरिद्रता-पीड़ित है, स्वाधीन नहीं है, पर उसके हृदय में आशा और उत्साह है, और उसकी दशा देखकर दूसरे पश्चिमीय देशों के श्रमजीवी थोड़े-बहुत प्रभावित होगए हैं।

यह निर्णय करना कठिन है कि यह नेताओं की योग्यता का फल है, या सिद्धान्त की उत्तमता का। यह दल 'सोसाइटी ऑफ़ जीसस' से मिलता-जुलता हुआ है। इसमें भी वही सिद्धान्तों के प्रति पूर्ण श्रद्धा, वही कठोर नियन्त्रण, और वही जोश है—जिसके

कारण आदमी सब-कुछ बलिदान कर सकता है। जिस जोश से 'जिसूट'-लोग चीन आदि को प्रचार के लिये चल पड़े थे, उसी प्रकार कम्यूनिस्ट भी हैज़े-जैसी बीमारी से मरे हुए लोगों को निस्संकोच भाव से समाधिस्थ करने को तैयार हैं। जिसूट ही की तरह कम्यूनिस्ट में लेश-मात्र भी स्वार्थ नहीं है। वह अपने सिद्धान्त पर प्राण तक निछावर करने को तैयार है। रूसी साम्य-वादियों का यह दृढ़ विश्वास है कि वह ठीक मार्ग पर चल रहे हैं, और अन्त में अवश्य विजय प्राप्त करेंगे। "अन्त में निश्चय सफलता प्राप्त होगी"—इस विश्वास ने उनमें क़ुर्बानी का जोश पैदा कर दिया है।

चूँकि बोल्शेविक लोग अपने सिद्धान्तों को बिलकुल दोष-रहित समझते हैं, इसलिए तर्क से वह चिढ़ते हैं। दूसरे धार्मिक अन्ध-विश्वासियों की भाँति वह अपने सिद्धान्तों को शक की दृष्टि से देखना पाप समझते हैं। हज़रत मोहम्मद के अनुयायी, क्रॉम-वेल के योद्धागण, जिनेवा के कालविन-सम्प्रदायवाले—इन सब का यही हाल था। दूसरों को कष्ट देना उन्हें अप्रिय तो है, पर और कोई उपाय न होने के कारण विवश होकर वह ऐसा करते हैं। किसी कार्य के सम्पादन में कहीं चूक जाना उनकी दृष्टि में क्षम्य है, पर सिद्धान्त के विषय में ग़लती करना क्षम्य नहीं है। ऐसी विचार-धारा से प्रेरित होकर मनुष्य अनायास ही सहिष्णुता को तिलाञ्जलि देकर ऐसे कटु साधनों का अवलम्बन कर सकता है, जैसा रूस में हो रहा है।

साम्यवाद एक प्रकार का नया धार्मिक मत है। इसे अपनी उपयोगिता सिद्ध करनी है। ऐसी स्थिति में इसे तलवार से सहायता लेनी पड़ेगी। ईसाई मत को भी आरम्भ में अपने प्रचार के लिए यही करना पड़ा था। मार्क्स ने साम्यवाद के इतिहास की धारा को इस ओर बहा दिया। उससे पहिले इसके सिद्धान्त केवल उच्च भावनाओं पर निर्धारित थे। मार्क्स ने इनकी प्राप्ति के साधन निश्चित किये तथा लेनिन और उसके सहयोगियों ने इसे क्रियात्मक बना दिया। यह कहना कि इनके सब विचार भ्रमपूर्ण हैं, निरर्थक है। जब मनुष्यों की कोई विशेष आकांक्षा वर्तमान साधनों से नहीं पूरी होती, तभी वह किसी ऐसे नए सिद्धान्त का आश्रय लेते हैं, जिनके द्वारा उनका अभीष्ट सिद्ध हो जाय। सामाजिक विधान की बड़ी-से-बड़ी ग़लतियों को यदि ठीक से जाँचा जाय, तो उनमें किसी बड़े सत्य का संकेत मिलता है।

साम्यवाद के सिद्धान्तों से यह लाभ और भी हुआ है कि अब हम दूसरे प्रचलित सिद्धान्तों की विशेष जाँच-पड़ताल करने लगे हैं। हमको इस बात की चेतावनी मिल गई है कि यदि हम एक संस्था को इस हेतु अच्छा समझते हैं कि हम उसके अभ्यस्त हो गये हैं, तो इसका यह मतलब नहीं है कि वह दुर्गुण-रहित है। इङ्गलैण्ड में पार्लियामेण्टरी व्यवस्था पिछले ६०० वर्ष से विद्यमान है। इसलिए अँग्रेज़ों की यह धारणा बन गई है कि प्रतिनिधि-प्रजातन्त्र (Representative democracy) ही सब से उत्तम सत्ता है। फिर भी यह सत्ता बहुत

थोड़े-से देशों में प्रचलित है, और जन-मत इसके प्रतिकूल ही प्रतीत होता है। एक और विचित्र बात यह है कि जिन लोगों ने रूस में बोल्शेविज़्म का घोर विरोध किया, वही इटली और हँगेरी की 'डिक्टेटरशिप' का गुण-गान करने लगे; यद्यपि रूस ने उन्हीं उपायों का उपयोग किया है, जिनका उपयोग इटली और हँगेरी ने किया। इसलिए यह आवश्यक है कि जिन बातों से राज्य की सुव्यवस्था की आवश्यकता होती है,—जैसे स्वाधीनता, समानता, उन्नति के लिए समान अवसर, न्याय—आदि, केवल उनके नाम ही से हम सन्तुष्ट न हो जाँय, बल्कि इस बात को विचारकर देखें, कि किस प्रकार की संस्थाओं के द्वारा हम उन्हें प्राप्त कर सकते हैं। साम्यवाद भी इन्हीं सब बातों के लिए प्रयत्नशील होने का दावा करता है। साथ ही उसकी सम्मति में कोई भी प्रचलित व्यवस्था इन आदर्शों के अनुकूल नहीं है। इसलिए वह नये साधनों-द्वारा इन्हें प्राप्त करना चाहता है। यदि कोई उनके मन्तव्यों पर विचार करे, तो उसे प्रतीत होगा कि उनमें औचित्य का अभाव नहीं है; क्योंकि यदि परीक्षा करने पर वह न्याय-संगत न भी सिद्ध हों, तो भी कम-से-कम हमें इतना तो करना ही पड़ेगा कि अपने विचारों में कुछ नई बातों को स्थान दें। साम्यवाद ने संसार के सामने अपनी माँगें रख दी हैं, जो सर्वथा उचित हैं। यदि और उपायों से यह माँगें पूरी न हो सकीं, तो भविष्य पर इसका अधिकार हो जाना असम्भव नहीं है।

❀ * ❀

दूसरा अध्याय

१

मनुष्य-समाज सदा ही अपनी उन्नति के लिए प्रयत्नशील रहता है। समय-समय हर सुधारक या नेतागण समय-विशेष की समस्याओं को सुलझाने के लिए उपाय सोचते हैं, और अपने सोचे हुए उपायों को न्याय-सङ्गत सिद्ध करते हैं। प्रत्येक सुधारक की विचार-धारा किसी-न-किसी सिद्धान्त पर निर्धारित रहती है। बाउसेट का विश्वास था कि मनुष्य-मात्र एक दैवी शक्ति के आधीन है, 'फ़िस्टे' को ऐसा प्रतीत हुआ कि मनुष्य के अन्ध-विश्वास पर सदा उसकी विचारशीलता और विवेक की विजय होती है। बोनाल्ड-डि-मेअस्टर की सम्मति में वह शक्ति, जो मानव-समाज में से अराजकता और कुव्यवस्था को दूर करके सुव्यवस्था स्थापित करती है, धर्म है।

मार्क्स ने भी इसी नियम के अनुसार कार्य किया। जिन मूल तत्त्वों पर मार्क्स के विचार स्थित हैं, वह हेगेल से मिलते-जुलते हैं। मार्क्स का असली कार्य यह है कि उसने उनके आधार पर एक नया आदर्श संसार के सामने रक्खा। उसे समझने के लिए हमें हेगेल के विचारों से सहायता मिलती है। हेगेल के विचार में मानव-समाज धीरे-धीरे उन्नति के मार्ग पर अग्रसर होरहा है। उसका कहना है कि संसार को सुखमय बनाने के लिए विवेक अनिवार्य है। चूँकि विवेक में विकास के तन्तु विद्यमान हैं, इसलिए उसके क्रमशः विकास से हम उन्नति करते रहेंगे। उसका विश्वास है कि मानव-समाज का धेय पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त कर लेना है, और सब स्थापित संस्थाये उस तत्त्व का बाहरी रूप हैं। इन संस्थाओं-द्वारा ही वह तत्त्व हमारे जीवन का अंश होजाता है। यदि संस्थाएँ न हों, तो उसका अस्तित्व ही वृथा है। हर युग में समाज इसलिए प्रयत्नशील रहा, कि अन्याय को मिटा दे—सब के साथ सब बातों में न्याय ही हो। हर समय समाज ने अपनी बुद्धि और योग्यता के अनुसार इस ध्येय को प्राप्त करने की चेष्टा की। पर किसी भी समय पूर्ण रूप से इसमें सफलता नहीं हुई, और जब किसी भी प्रचलित उपाय की अपूर्णता का पता लग जाता है, तो हमारा ध्यान उस उपाय की त्रुटियों की ओर चला जाता है। हम इन त्रुटियों को दूर करना चाहते है। फल-स्वरूप हम नये विचारों का प्रयोग करते हैं, और पुराने विचार त्रुटिपूर्ण होने के कारण रद्दी हो जाते हैं। इस प्रकार पुराने

विचारों को छोड़ देना वास्तव में रचनात्मक है। ऐसा इसलिए है, कि परिवर्तन करने के लिए हम इसलिए प्रेरित होते हैं, कि त्रुटियाँ दूर हो जायँ। इसलिए हम विध्वंस नहीं करते। हम केवल पुराने अवयवों को नई मात्रा में सम्मिश्रण कर देते हैं।

इस भाँति 'हेगेल' के विचार में, हर बात का रूपान्तर हुआ करता है। हर बात के साथ उसका विरुद्धालङ्कार लगा हुआ है। प्रेम के साथ घृणा, स्वाधीनता के साथ पराधीनता, अच्छाई के साथ बुराई—उन्नति के लिए इनकी आवश्यकता है। यदि ज़मींदारी-प्रथा न होती, तो मध्य-श्रेणी की प्रधान सत्ता का आविर्भाव न होता; इसी प्रकार इस सत्ता के कारण ही श्रमजीवी-आन्दोलन का जन्म हुआ। व्यक्तिगत सम्पत्ति ने अपनी त्रुटियाँ प्रकट कर दीं। इन त्रुटियों को दूर करने का उपाय इसका विरुद्धालङ्कार है, और वह है, सम्पत्ति पर सब का समान अधिकार। समय पाकर किसी भी सत्ता का आविर्भाव होता है, वह फलती-फूलती है। फिर एक ऐसा समय आता है, जब उसकी उपयोगिता क्षीण होने लगती है, तब रचनात्मक विध्वंस होता है, और इसके द्वारा जो नई सत्ता स्थापित होती है, उसकी भी अन्त में यही दशा होती है।

'हेगेल' ने अपनी युक्तियों से अनुदार सत्ता का समर्थन किया। वह उदारवाद और प्रतिनिधि-संस्थाओं के विरुद्ध था, और उसके विचार में कठोर 'प्रशियन' राज्य-सत्ता ही स्वाधीनता की पराकाष्ठा थी। 'हेगेल' ने जो अपनी युक्तियों से परिणाम

निकाला, उसे मार्क्स ने स्वीकार नहीं किया। उसे केवल यह युक्तियाँ पसन्द आईं। हर-एक युग अपनी त्रुटियों को दूर करने की चेष्टा करता है—इस युक्ति से उसने अपने काम में सहायता ली। 'हेगेल' का यह कहना है, कि हर-एक युग की विचारधारा उस युग की विशेष आवश्यकताओं को प्रकट करती है। सिद्ध करता है, कि उसके विचार बड़े गम्भीर थे। केन्द्रीय राज्यसत्ता का विकास तभी हो सकता है, जब समाज में धनियों और निर्धनों का भेद स्थापित हो जाय। एक देश की भौगोलिक स्थिति का उसके इतिहास पर बहुत प्रभाव पड़ता है। सारांश यह है, कि किसी भी समय-विशेष की परिस्थितियाँ उस समय के विचारों का निरूपण करती है। मार्क्स को इनके द्वारा बड़ी सहायता मिली। जिस प्रकार 'स्ट्राअस' और 'फयूरबाक' ने हेगेल की युक्तियों का ईसाई-मत के खण्डन में उपयोग किया, उसी प्रकार मार्क्स ने इनका उपयोग अर्थवाद के विरुद्ध आन्दोलन करने में किया। मार्क्स को इस बात का श्रेय है, कि उसने सामाजिक प्रश्नों की विवेचना में साधन के महत्व को समझा, और इस बात को जान लेने के कारण उसके हाथ मे एक नई शक्ति आगई।

महान् विचार सामान्यतः सरल होते हैं। मार्क्स ने अपने विचार संसार के सम्मुख रखते हुए यह बतलाया, कि जीवन की मुख्य आवश्यकताएँ और उनकी प्राप्ति के उपाय मुख्यतया समाज की गति-विधि को निश्चय करते हैं। समाज की स्थिति में परिवर्तन भी इन्हीं के कारण होता है। यह समझना, कि इस

परिवर्तन का कारण मनुष्य की कोई आन्तरिक शक्ति है, या ईश्वरीय प्रेरणा है, या न्याय की प्रधानता है, भ्रमपूर्ण है। यह बातें तो केवल भावुक हृदयों की कल्पना-मात्र हैं। मुख्य बात तो यह है, कि हम अपने जीवन-निर्वाह की आवश्यक सामग्री कैसे प्राप्त करें?

मार्क्स ने इस प्रसङ्ग को इतना कहकर ही समाप्त नहीं कर दिया; उसने आगे यह बतलाया, कि समाज के अन्तर्गत जितनी भी बातें हैं—उन सब में प्रधान बात यह है, कि किसी समय-विशेष में माल के उत्पादन की शैली क्या है? समाज की उपजाऊ-शक्तियाँ वह हैं, जिनके द्वारा मनुष्य अपने जीवन के लिए आवश्यक वस्तुएँ प्राप्त करता है। विचारों और सत्ताओं का रूप इन्ही के प्रभाव के कारण ही बनता और बिगड़ता है। क़ानून, धर्म, राज्य-सत्ता, मनुष्य-समाज के भेद-इत्यादि सब प्रकार का वास्तविक निर्णय इसी आधार पर होता है, कि किसी समय-विशेष में उत्पादन-शैली क्या है? इन्हीं के आधार पर धर्म, राजनीति-आदि के विषय में लोकमत बन जाता है। वास्तव में यह संस्थाएँ केवल एक व्यवस्था के अलग-अलग पहलू हैं—मूल कारण वही उत्पादन-शैली है। उसी के कारण विचारों और संस्थाओं की उत्पत्ति होती है। मार्क्स ने एक जगह लिखा है—'मनुष्य स्वयम् ही अपने इतिहास का निर्माण करते तो हैं, पर यह कार्य वह स्वाधीनता से अपनी इच्छानुसार नहीं करते; परि-स्थितियों से प्रेरित होकर ही उन्हें ऐसा करना पड़ता है।'

आर्थिक व्यवस्था का स्थान मुख्य है। समाज के दूसरे सब अंगों का मुख्य ध्येय इसकी आवश्यकताओं को पूरा करना है। जिस समय ज़मींदारी-प्रथा विद्यमान थी, उस समय की सब संस्थायें उसकी सहायक थीं। उस समय क़ानून ज़मींदारों के हितों का रक्षक था। यहाँ तक कि धर्म भी उन्हीं का सहायक बन गया था। ईसाई-मत में समानता का बहुत ऊँचा स्थान है, पर इस विषय में उस समय इसने अपने सिद्धान्तों को बदल डाला, और ज़मींदारों के अनुकूल होकर उस समय की प्रचलित सत्ता का समर्थन करने लगा। जब इस सत्ता का पतन आरम्भ होगया तो मध्यम श्रेणीवालों ने अपना सर उठाया और व्यक्तिगत सम्पत्ति का महत्व बढ़ने लगा। कुछ समय बाद सब संस्थाओं का रूप बदलकर इस नई सत्ता के अनुकूल होगया। कॉर्पोरेशन (Corporation) का महत्व जाता रहा—व्यक्तिवाद का महत्व बढ़ गया। 'प्रोटेस्टैन्ट' मत, जो कि व्यक्तिवाद के अनुकूल, है 'कैथोलिक' मत से 'बाज़ी मार ले गया। ज़मींदारी की छोटी-छोटी रियासतें लोप होने लगीं और उनका स्थान व्यापारिक विकास ने ले लिया। व्यापारिक उन्नति के लिए सरल क़ानून और शान्तिमय जीवन की आवश्यकता है;—यह बातें भी होगईं। जब पुरानी राज्य-सत्ताओं ने इसमें बाधा देने की चेष्टा की, तो उन्हें भी दब जाना पड़ा, और धीरे-धीरे उनका भी नाश हो गया। हमारी आवश्यकताएँ आर्थिक वातावरण (Material Environment) पर निर्भर हैं। इसी के प्रभाव से

प्रेरित होकर मनुष्य परिवर्तन का इच्छुक होता है।

मार्क्स ने इन युक्तियों से अपने विचारों का समर्थन किया है। अब प्रश्न यह है कि क्या आर्थिक वातावरण (Material Conditions) में भी परिवर्तन होता है? मार्क्स ने बतलाया है कि ऐसा होना अनिवार्य है। नए बाज़ार, नए माल बनाने के उपाय, और कच्चे माल (raw material) आदि का पता लगता रहता है। माल बनाने और उसे इधर-उधर बेचने के प्रबन्ध में उन्नति होती रहती है। इस उन्नति के कारण आर्थिक व्यवस्था को भी बदलकर उन्नत करने की आवश्यकता होती है। चूँकि इस आर्थिक व्यवस्था पर सब संस्थाएँ निर्धारित होती हैं, जैसे क़ानून राज्य-विधान धार्मिक संस्थाएँ,-आदि, इसलिए सभी परिवर्तन करने की आवश्यकता होती है। प्रचलित व्यवस्था एक स्थाई चीज़ है। समाज की आवश्यकताओं में उन्नति के कारण अन्तर बढ़ता जाता है। इसलिए प्रचलित व्यवस्था समाज की आवश्यकताओं को पूरा करने में समर्थ नहीं होती। इन आवश्यकताओं से प्रेरित होकर मनुष्य के विचार नई धाराओं में प्रवाहित होते हैं।

इसका उदाहरण हमें मिस्टर बरट्रेन्ड रसेल से मिलता है। स्त्रियों कीस्वाधीनता का प्रश्न प्लेटो के समय से संसार के सन्मुख है। इसका बहुत-से विद्वानों ने समय-समय पर बड़ी योग्यता से समर्थन किया। पर उनके इस प्रयास का कोई वास्तविक फल नहीं हुआ। बाद में एक समय आया, जब स्त्रियाँ औद्योगिक

क्षेत्र में बड़ी संख्या में पहुँच गईं। उनकी स्थिति में परिवर्तन होने के कारण उन्हें यह अधिकार प्राप्त हो गया। एक मज़ेदार बात और भी है। सुधार के समय से सन् १६८८ की राज्य-क्रान्ति तक इस बात पर बहुत आन्दोलन होता रहा कि मनुष्यों के व्यवहार में सहिष्णुता होनी परमावश्यक है पर इससे कोई फल नहीं हुआ। १७ वीं शताब्दी में यह अनुभव हुआ कि व्यापारिक सफलता के लिये इस प्रकार के अत्याचार, जो समाज में सहिष्णुता के अभाव से होते हैं, हानिकारक हैं। बस, फिर क्या था—एकदम से सब को याद आगया, धर्म हमें प्रेम सिखाता है। धर्म के नाम पर अत्याचार करना अत्यन्त अनुचित है। बस, इस कुप्रथा का अन्त होगया। जिन बातों को लोग बहुत असाधारण समझते हैं, उन्हें भी समय आजाने पर बड़ी सुगमता से अपना लेते हैं।

नई परिस्थितियों से नए सिद्धान्तों का जन्म होता है, और यह सिद्धान्त एक-न-एक दिन स्वीकार किये जाते हैं। हर समय समाज में दो दल वर्तमान रहते हैं—एक तो वह, जो वर्तमान व्यवस्था के पक्ष में हैं, और दूसरा वह, जो परिवर्तन के इच्छुक हैं। सामान्यतः वर्तमान व्यवस्था के समर्थक सम्पत्तिशाली लोग होते हैं, और उसके विरोधी निर्धन लोग। राज्य-सत्ता पर सम्पत्तिवालों का अधिकार होता है। वह क़ानून ऐसे बनाते हैं, और सब संस्थाओं का संचालन इस भाँति करते हैं, जिसमें उन्हें लाभ हो। वह समाज का हित अपने हित में समझते हैं। यदि उनका कोई

विरोध करता है, तो वह उसे अराजकता समझते हैं। शिक्षा, न्याय, धर्मशिक्षा–आदि सब उनके सिद्धान्तों के अनुकूल बन जाती हैं। वह जान-बूझकर यह चेष्टा नहीं करते कि निर्धन लोग कोई अधिकार प्राप्त न कर सकें, पर यह बात परिस्थिति के प्रभाव से स्वयम् ही उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार जो दल अधिकारों से वंचित् कर दिया जाता है, वह भी अधिकारों में भाग लेने का इच्छुक होता है। इसलिए समाज में सदा ही अधिकारों के लिए दो दलों में झगड़ा हुआ करता है। इसमें कभी-कभी रिआयतें देकर समझौता हो जाता है, और इस कारण से झगड़ा कुछ समय के लिए शान्त हो जाता है। पर यदि उस व्यवस्था में इतनी गुंजाइश नहीं रह गई है कि रिआयतें दी जा सकें, तो समझौता असम्भव है। अधिकारी लोग तो तभी रिआयतें देंगे, जब ऐसा करके भी वह अपनी प्रभुता बनाये रह सकें। ऐसी दशा में राज्य-क्रान्ति हो जाती है, और व्यवस्था में परिवर्तन हो जाता है। शक्ति नये आदमियों के अधिकार में चली जाती हैं, और संस्थाओं का नई आवश्यकताओं के अनुसार रूपान्तर हो जाता है।

पश्चिमीय देशों में जब व्यक्तिगत सम्पत्ति का प्रभुत्व हुआ, तो वहाँ के दलों में सामयिक संस्थाओं की उपयोगिता और औचित्य पर झगड़ा होने लगा। इस विषय से इतिहास भरा पड़ा है। रोम में 'पैट्रीशियन' और 'प्लीबियन' का भेद था। मध्यकालीन योरोप में ज़मींदार और कृषक-मज़दूर का, औद्यो-

गिक क्रान्ति में स्कायर लोगों और बार्गेज़ू का, हमारे समय में पूँजीपति और श्रमजीवी का;—इस प्रकार दो विरोधी दलों की राज्य-सत्ता पर अधिकतर प्राप्त करने की चेष्टा से सिद्ध होता है कि इस प्रकार की प्रतियोगिता सदा ही से है। इसी के द्वारा हर एक युग के सिद्धान्त निश्चित् होते हैं। मार्क्स ने साम्यवादी 'मेनिफ़ेस्टो' में लिखा है—"हमारे भावों में वैसा ही परिवर्तन होता है, जैसा माल के उत्पादन की शैली में। जिस समय जिस दल के हाथ में अधिकार होता है, उसी दल के विचारों का प्रचार हो जाता है।" जब कोई विचारकस्थिति में कुछ नई शक्तियों का अनुभव करता है, जिनका अनुभव अभी तक किसी दूसरे ने न किया हो, वही अनुभव एक नये विचार के रूप में आता है, और जैसे-जैसे इस विचार की उपयोगिता उस स्थिति-विशेष के कारण प्रकट होती जाती है, वैसे-वैसे उसका महत्व बढ़ता जाता है। "जब पुराने धर्म जर्जर हो गए थे, तो ईसाई-धर्म ने उन्हें हटाकर उनका स्थान ले लिया। जब १८ वीं शताब्दि में ईसाई-धर्म का पतन हुआ, और उचित-वाद ने उसका स्थान लिया, उस समय ज़मींदारों के दल का क्रान्तिकारी बार्गेज़ू के हाथ से अन्त होगया। धार्मिक स्वाधीनता और अन्तःकरण की शुद्धता के अर्थ केवल ज्ञान के क्षेत्र में प्रतियोगिता के रह गए।"—मार्क्स ने साम्यवादी 'मेनिफ़ेस्टो' में लिखा है।

इतिहास के इस दृष्टि-कोण के आविष्कार का श्रेय साम्य-वादियों को नहीं है। समाज के आन्तरिक दलों के परस्पर संघर्ष से परिवर्तन होता है, यह सिद्धान्त भी साम्यवादियों से बहुत पहले का है। इसको फ्रेञ्च राज्य-क्रान्ति के पश्चात् बहुत-से लेखकों ने अपने विचारों के आधार-स्वरूप ग्रहण किया है। बेव्यूफ ने (१७९६) इसका बलपूर्वक समर्थन किया। १८३२ में लुई फ़िलिप ने 'जनता के मित्र-सङ्घ' को ग़ैर-क़ानूनी बतला दिया था। इस अवसर पर जो मुक़दमा चला था, उसमें ब्लैंकुई ने इसकी चर्चा की थी। सेण्ट साइमन और उसके अनुयायी इसके विषय में भिज्ञ थे। बेज़ार्ड ने अपनी पुस्तक 'डॉक्ट्रिन-सेण्ट साइमानिन' में साफ़ लिखा है—"मनुष्य दो भागों में विभक्त हैं, स्वामी और सेवक।" जर्मनी के सोशलिस्टों ने इसकी चर्चा करते हुए १८४४ में कहा—"इतिहास केवल एक शुरू से होते रहनेवाले युद्ध का वृत्तान्त है, जिसमें एक ओर तो भाग्यशाली, सम्पत्तिशाली और विजेता हैं, और दूसरी ओर अभागे, दरिद्र और दुखी हैं।" इसी सम्बन्ध में आगे चल के यह लेखक प्रश्न करता है कि क्या इस प्रकार के भेदों से रहित भी समाज का निर्माण हो सकता है? इसके अतिरिक्त ऐसे विद्वानों ने भी इसका ज़िक्र किया है, जो सोशलिस्ट नहीं थे। एक फ्रेञ्च विद्वान् ने ऐतिहासिक पदार्थवाद के मन्तव्य की उतनी ही स्पष्टता और विश्वास की प्रचुरता से व्याख्या की है, जैसे

मार्क्स ने। इसका नाम कॉन्सटैन्टाइन पीकर था। पर इसकी ओर विशेष ध्यान नहीं दिया गया।

मार्क्स ने भी इस बात का अनुभव किया। यूरोपियन सोशलिस्टों के विषय में अपने साम्यवादी 'मेनिफ़िस्टो' में लिखते हुए मार्क्स ने कहा है—"यह लोग समाज-भेद से परिचित हैं, और यह भी जानते हैं कि वर्तमान समाज में उसे विध्वंस करने-वाले अवयव उपस्थित हैं।" अन्तर केवल इतना ही है कि मार्क्स और उसके अनुयाइयों ने इससे भिन्न परिणाम निकाला है। उदाहरणार्थ कहा जा सकता है कि मार्क्स से पहिले के विद्वानों की न्याय के विषय में यह धारणा थी कि उसका आर्थिक स्थिति से कोई सम्बन्ध नहीं है; जैसा सिसमोन्डी का ख़याल है, या जैसे सेन्ट साइमन, फ़ाउरियर-आदि ने कुछ विशेष प्रकार की संस्थाओं को महत्व दिया है। मार्क्स का मत इससे बिलकुल भिन्न है। उसका विश्वास है कि जब एक उत्पादन-प्रणाली के स्थान पर दूसरी स्थापित होती है, तो इस परिवर्तन के लिए तीव्र क्रान्ति अनिवार्य है, और बार्गजू और प्रालीटेरियट का झगड़ा समाज मे भेद-भाव का अन्तिम झगड़ा है। यह अन्तर मौलिक है। साम्यवादियों का कार्यक्रम पहिले मन्तव्य के आधार पर बना है, और दूसरे मन्तव्य के कारण उन्हें अपनी अन्तिम विजय पर पूर्ण विश्वास है। उनमें अथाह साहस और निर्भीकता है; क्योंकि वह जानते हैं कि भविष्य उनके अनुकूल है।

समाज के अन्तर्गत दलों के संघर्ष के कारण वर्तमान सामा-

निक विधान और संस्थाओं को उत्पादन-शैली के अनुकूल बनना पड़ता है। इन दलों को किन-किन विशेष चिन्हों से जाना जा सकता है? साधारणतया इनमें कई भेद हैं; जैसे वर्ग-भेद, धर्म-भेद, राजनैतिक सिद्धान्त-भेद, इत्यादि। मार्क्स ने इनके श्रेणीबद्ध करने का यह नियम बनाया है कि कौन किस प्रकार धन उपार्जन करता है। इस प्रकार समाज दो मुख्य भागों में विभक्त किया जा सकता है—एक ओर पूँजीपति और दूसरी ओर श्रमजीवी। पूँजीपतियों के लक्षण यह हैं कि वह मालदार हैं, उनके पास या तो भूमि है, या किसी व्यापारिक संस्था के हिस्से हैं, या वह किसी कारख़ाने के मालिक हैं, और या कच्चे माल पर उनका आधिपत्य है। दूसरों का विशेष लक्षण यह है उन्हें मज़दूरी करनी पड़ती है, और वही उनका आधार है। इन महान् भेदों में छोटी-छोटी बातों की ओर मार्क्स ने ध्यान नहीं दिया। कुछ मज़दूरी करनेवालों ने, सम्भव है, कुछ हिस्से ख़रीद लिए हों। इस श्रेणी के बहुत-से व्यक्तियों ने आजकल थोड़ा-बहुत रुपया को-ऑपरेटिव संस्थाओं में लगा रक्खा है। बहुत-से पूँजीपति भी थोड़ा-बहुत काम करते हैं; जैसे अपनी सम्पत्ति का प्रबन्ध करना या ऐसे प्रबन्ध में सहायता करना। मार्क्स ने स्वीकार किया है कि इस प्रकार हम इन बड़ी श्रेणियों को छोटी-छोटी कई श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं। पर उसके विचार में यह बातें उतनी ही महत्वहीन हैं, जैसे यह बात कि कुछ पूँजीपति तो अपने कार्य में सफल होते हैं और कुछ नहीं भी होते; या यह कि कुछ मज़दूरी करनेवालों को

अच्छी आय होती है, और कुछ का निर्वाह भी कठिनाई से होता है। उसकी दृष्टि में मुख्य बात यह है कि एक श्रेणी के हितों में इस कारण से समता है कि वह मज़दूरी करते हैं, और दूसरी में इस कारण कि अपनी पूँजी के बल से उनका उत्पादन पर अधिकार है।

साम्यवादियों की दृष्टि में यह भेद मौलिक है। इसके कारण इन श्रेणियों में अमिट शत्रुता है। इनका विरोध कभी मन्द हो जायगा, कभी तीव्र, पर अन्त में यह अवस्था हो जायगी कि उनमें से एक को दूसरी पर विजय प्राप्त ही करना पड़ेगा। मज़दूर-श्रेणी सदा ही अपने श्रम का ऊँचे-से-ऊँचा मूल्य पाना चाहेगी और पूँजीपति सदा ही अपने लाभ को ध्यान में रखने के कारण कम-से-कम मूल्य देने की चेष्टा करेंगे। इस प्रकार श्रम को बेचनेवालों में और ख़रीदनेवालों मे एक इस प्रकार की शत्रुता उत्पन्न हो जाती है, जिसका समाज के आधार पर प्रभाव पड़ता है। यह निश्चय है कि मज़दूर को या तो काम मिले; नहीं तो उसे भूखा रहना पड़ेगा। पूँजीपतियों को ऐसी कोई अड़चन नहीं है। इस स्थिति-विशेष से पूँजीपतियों के पास एक ऐसा उपाय है, जिससे मज़दूरों को वह दबा सकते हैं। और इस दयनीय दशा से मज़दूरों का तभी छुटकारा हो सकता है जब कि यह सम्बन्ध टूट जाय। पर इस सम्बन्ध से छुटकारा पाने के लिए व्यक्तिगति सम्पति की सत्ता को मिटाने की आवश्यकता है। उसका फल यह होगा कि एक ऐसी सत्ता की रचना करनी पड़ेगी, जिसमें न तो कोई पूँजीपति हो और

न कोई मज़दूर। इस युद्ध के बाद सब भेद-भाव मिट जायगा; क्योंकि समाज श्रेणी-रहित हो जायगा।

इस परिवर्तन के लिए जो साधन और उपाय मार्क्स ने बतलाये हैं, वह उसके अपने ही हैं। "मध्य श्रेणी के इतिहास-लेखकों ने" मार्क्स ने १८५२ ई० में लिखा था—"बहुत दिन हुए, श्रेणी-युद्ध के विकास को वर्णन किया था, और राजनैतिक दार्शनिकों ने श्रेणियों की आर्थिक मनोवृत्ति पर प्रकाश डाला था। मैंने इसमें अपने कुछ विचारों को जोड़ दिया है—(१) वर्तमान श्रेणियाँ माल की उत्पादन-शैली के कुछ पहलुओं से सम्बद्ध हैं। (२) श्रेणियों में शत्रुता के परिणाम-स्वरूप 'प्रॉलीटेरियट' की 'डिक्टेटरशिप' स्थापित होना अनिवार्य है। (३) 'डिक्टेटरशिप' केवल श्रेणियों के अस्तित्व को नष्ट करने का साधन-मात्र है। बस, इसके बाद ऐसे समाज की स्थापना हो जायगी, जिसमें भेद न हो।" इन बातों को न्याय-संगत सिद्ध करने के लिए मार्क्स की युक्ति यह है, कि पूँजीपतियों और श्रमजीवियों में विरोध होने के कारण ट्रेड-यूनियन्स का जन्म होता है। इनके आरम्भिक अस्तित्व से बार्गज़ू और प्रॉलीटेरियट के बीच में होनेवाले युद्ध के पूर्व-लक्षण दिखलाई देते हैं। इसका कारण यह है, कि धीरे-धीरे इन ट्रेड-यूनियन्स को यह विश्वास हो जाता है, कि जब तक पूँजीवादियों की प्रधानता रहेगी, तब तक श्रमजीवियों के दुख का अन्त नहीं होगा। इस भाँति वह यह समझ लेते हैं, कि अपनी स्वाधीनता प्राप्त करने के लिए उत्पादन पर सब का समान अधि-

कार स्थापित करना चाहिये। उनमें यह जागृति उत्पन्न होते ही वह इस श्रेणी-युद्ध की तैयारी करने लगते हैं। इस सम्बन्ध में श्रमजीवियों के हितों में समानता होने के कारण उनकी अपनी श्रेणी के अन्तर्गत सब भेद-भाव मिट जाता है, और एकता स्थापित हो जाती है। इस भाँति साम्यवाद उनका उद्देश्य हो जाता है। मार्क्स की सम्मति है, कि अपनी स्वाधीनता प्राप्त करने के लिए उपाय और परिश्रम श्रमजीवियों को स्वयं ही करना चाहिये। उन्हें सुधारों से बहलाने की चेष्टा की जायगी, पर उन्हें इससे सन्तुष्ट नहीं होना चाहिये। एक बात से उन्हें और सतर्क रहना चाहिये। उनके साथ ऐसे भी 'वार्गज़्' विद्वान् और राजनीतिज्ञ होते हैं, जो उनकी दुर्दशा देखकर उनके प्रति न्याय का आन्दोलन करेंगे। इससे प्रभावित होकर श्रमजीवियों को अपने कर्तव्य से नहीं हटना चाहिये। उनके लिए यह हितकर नहीं है, कि उनका पूँजीवादियों के साथ झगड़ा दब जाय—उल्टा उन्हें उस झगड़े को बढ़ाने की चेष्टा करनी चाहिये।

रिआयतें देकर पूँजीवादी अपनी दुर्बलताएं वीकार करते हैं। इन रिआयतों से पूँजीवादियों और श्रमजीवियों में जो युद्ध होना निश्चयात्मक है, वह रुक नहीं सकता। ऐसी बातें—जैसे मज़दूरी के भाव पर झगड़ा, या यह, कि प्रति-दिन कितने घण्टे काम होना चाहिये—आदि तो केवल उस बड़े झगड़े के सांकेतिक चिह्न हैं। श्रमजीवियों का कर्तव्य यह नहीं है, कि पूँजीवादियों से समझौता करके पूँजीवाद को अधिक समय तक क़ायम रहने दें;

उन्हें तो उस समय की प्रतीक्षा करनी चाहिये, जब वह शीघ्र-से-शीघ्र उसका मूलोच्छेद कर देंगे। इस उद्देश्य से उन्हें राज्य की व्यवस्था पर अधिकार करने की आवश्यकता है—क्योंकि जब तक यह उनके अधिकार में न आवेगी, तब तक उसका प्रयोग दूसरी श्रेणी अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए करती रहेगी। इस पर अधिकार प्राप्त करने के पश्चात् श्रमजीवियों को उसकी शक्ति की सहायता से पूँजीवादी के स्थान पर साम्यवादी सत्ता स्थापित कर देनी चाहिये।

ट्रेड-यूनियन्स का कार्य, इन बातों को दृष्टि में रखते हुए, जनता में जागृति उत्पन्न करना है, जिसमें वह राज्य-व्यवस्था पर अधिकार प्राप्त करने की तैयारी कर सके। राजनैतिक क्षेत्र में भी इन्हें पदार्पण करना चाहिये। उसके लिये मज़दूर-दल का निर्माण किया जाय। श्रमजीवियों की जो जागृति आर्थिक क्षेत्र में हुई है, उसके महत्व को राजनैतिक क्षेत्र में उपयोग करना इस दल का कार्य होगा। प्रॉलीटेरियट उन्नति के पथ पर अग्रसर होता जायगा, और यह दल उसका एक प्रकार का अग्र-भाग होगा। राजनैतिक क्षेत्र में यह दल काफ़ी शक्तिशाली बन सकता है। यदि राजनैतिक प्रजातन्त्र स्थापित हो जाय, तो इससे साम्य-वाद को विशेष सहायता मिल सकती है। इस प्रजातन्त्र में वास्तविकता कुछ भी नहीं होती, फिर भी जैसा लेनिन ने कहा है—"प्रजातन्त्र में भी पूँजीवादियों की प्रधानता होती है, और इस कारण इसमें स्वाधीनता और हित-रक्षा अल्पमत की ही

होती है। पूँजीवाद के विचार में स्वाधीनता के अर्थ केवल वही हैं, जो ग्रीक-रिपब्लिक में थे—गुलामों के स्वामियों की स्वाधीनता। वर्तमान मज़दूरी के गुलाम पूँजीवादियों की निन्दित नीति के कारण उतने अधिक व्यथित और क्लान्त रहते हैं, कि उन्हें प्रजातन्त्र की ख़बर ही नहीं रहती, वह राज-नीति का ध्यान भी नहीं कर सकते; इसका फल यह होता है, कि साधारणतया जनता का बड़ा भाग देश की राजनीति में भाग लेने से वञ्चित रहता है।"

इसलिए साम्यवाद की दृष्टिसे पूँजीपतियों का प्रजातन्त्र दिखावा-मात्र है। एक तो यह केवल राजनैतिक क्षेत्र ही तक सीमित रहता है; आर्थिक क्षेत्र का इससे कोई सम्बन्ध न होने के कारण अभागे श्रमजीवी इससे कोई लाभ नहीं उठा सकते हैं। पूँजीवाद ने इन्हें दासता की बेड़ियों में जकड़ रक्खा है, और इनके विचारों में भी गुलामी आगई है। दूसरा कारण यह है कि इसमें स्वाधीनता का इतना ही स्थान है, जिसमें पूँजीवाद की अक्षुण्णता में न्यूनता न आवे। इसका उदाहरण यह है कि यदि निर्वाचन में मज़दूर-दल के सदस्य अधिक संख्या में चुन लिये जाँय, और वह लोग अधिकार प्राप्तकरके शान्तिमय साधनों से साम्यवादी सत्ता की स्थापना की चेष्टा करें, तो पूँजीवादी उनका घोर विरोध करके शक्ति उनके हाथ से छीन लेंगे। राजनैतिक क्षेत्र में काम करने से केवल एक लाभ होगा—श्रमजीवियों को पता लग जायगा कि शान्तिमय उपायों से कुछ लाभ की आशा

करना वृथा है। इनके द्वारा आनेवाला युद्ध रोका नहीं जा सकता।

साम्यवादियों के विचार से यह युद्ध वास्तविक युद्ध होगा—इसमें युद्ध की नीति और सामग्री का उपयोग किया जायगा, और शान्ति तब ही होगी, जब प्रॉलीटेरियट का अधिकार पूरे तौर पर जम जायगा। मार्क्स को आशा थी, कि यह युद्ध पहिले उन देशों में छिड़ेगा, जो औद्योगिक उन्नति में अग्रसर हैं। यह आशा ठीक सिद्ध नहीं हुई; क्योंकि पहिले-पहल रूस में इसका सूत्रपात हुआ। उनका ख़याल था, कि क्रान्ति के बाद सुधार-वादियों का प्रजातन्त्र बनेगा। इस समय साम्यवादियों का कर्तव्य है कि इस नई सत्ता के विरुद्ध भी युद्ध करें—जैसा लेनिन और उसके अनुयाइयों ने रूस की पहिली राज्य-क्रान्ति के उपरान्त किया था। उन्हें इसकी प्रबल चेष्टा करनी चाहिये कि इस नई सत्ता को जहाँ तक हो सके, शक्तिहीन कर दें। १८५० में मार्क्स ने 'लीग ऑफ़ दी कम्यूनिस्ट' से कहा था—"नेताओं का उद्देश्य यह होना चाहिये कि विजय के बाद भी क्रान्तिकारी जोश मिटने न दें'' ......। झगड़े के समय और उसके उपरान्त उन्हें सदा अपनी माँगें मध्यम श्रेणी के प्रजातन्त्र-वादियों के साथ-साथ पेश करनी चाहियें......। अधिकारियों से अधिक-से-अधिक रिआयतों का वचन लेलेना चाहिये, और इस प्रकार उनकी स्थिति को निर्बल बना देना चाहिये।" इसी स्थिति के आने के उपरान्त सशस्त्र क्रान्ति कर देनी चाहिये।

साम्यवादियों के हाथ में अधिकार आते ही लेनिन के शब्दों में प्रॉलीटेरियट की डिक्टेटरशिप के प्रबन्ध में उन्नति का युग उपस्थित हो जाता है। इसके अतिरिक्त कोई उपाय नहीं है; क्योंकि और कोई शक्ति पूँजीवादियों के बल को क्षीण नहीं कर सकती। डिक्टेटरशिप जितनी ही अधिक शक्तिशाली होगी, उतनी ही शीघ्रता से साम्यवाद स्थापित हो जायगा। इसमें निर्बलता होने के कारण प्रतिकूल क्रान्ति की आशङ्का है, और इससे व्यक्तिगत सम्पत्ति के मूलोच्छेद में अधिक विलम्ब होगा।

अब हमें यह देखना है कि क्रान्ति के समाप्त हो जाने पर साम्यवाद कैसे समाज की रचना करेगा, और इस समाज के अङ्गों का राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं के साथ कैसा सम्बन्ध होगा? समाज की रचना के विषय में साम्यवादियों के विचार स्पष्ट नहीं हैं। उत्पादन की नई शैली के फल-स्वरूप किन उपायों का अवलम्ब करना पड़ेगा, इसका समय से पहिले निश्चय करना असम्भव है। इस विषय में केवल कुछ मूलसिद्धान्त ही स्थिर किये जा सकते हैं। इस समय जिस प्रकार मज़दूरों के करने का काम भिन्न-भिन्न भागों में बँटा हुआ है, वह बात नहीं रह जायगी। मस्तिष्क से परिश्रम करनेवालों में और शारीरिक परिश्रम करनेवालों में कोई भेद नहीं रह जायगा। मज़दूर के काम की ओर दृष्टिकोण बदल जायगा, वह एक ख़रीदने और बेचने की चीज़ नहीं रह जायगी। स्टेट धीरे-धीरे स्वयम् ही लोप हो जायगी; क्योंकि लेनिन के विचार में "जब सब लोग सामाजिक जीवन

के मूलसिद्धान्तों के अभ्यस्त हो जावेंगे, और उनके श्रम से यथेष्ट उत्पादन होने लगेगा, तो उनका स्वभाव ऐसा बन जायगा कि वह अपनी सामर्थ्य-भर अधिक-से-अधिक काम करें।" "जनता मार्क्स के शब्दों में बार्गज़ू क़ानून की संकीर्ण सीमा के बाहर निकल आवेगी।" 'कम्यूनिस्ट मेनिफ़ेस्टो' में लिखा है—"समाज अपने झण्डे पर यह लिखेगा कि 'प्रति व्यक्ति अपनी सामर्थ्य के अनुसार काम करे और अपनी आवश्यकताओं के अनुसार ले।" इन बातों पर अगर कोई न विश्वास करे, तो लेनिन का उत्तर यह है—"साम्यवादियों के उनके आदर्श को प्राप्त करने के लिये यह आवश्यक है कि मज़दूर अधिकता तत्परता और परिश्रम से काम करें, जनता अधिक समझदारी से काम करे; ऐसा न हो कि कोई अपनी असावधानता से ऐसी चीज़ों को हानि पहुँचा दे, जो वास्तव में समाज की मूल्यवान् सम्पत्ति हैं, और न कोई असम्भव बातों की आशा करें। मनुष्य-प्रकृति में कम-से-कम इतना परिवर्तन तो हो जायगा कि वह इस आदर्श के अनुकूल काम करने लगे। इसी उद्देश्य से ब्यूख़ेरिन ने कहा था—"यदि प्रॉलीटेरियट वास्तव में विजय का इच्छुक है, तो शिक्षा की नीति का उसे स्वयम् सञ्चालन करना चाहिये।"

साम्यवादियों का विश्वास है कि उनकी विजय तब हो सकती है, जब समस्त संसार में क्रान्ति हो। ब्यूख़ारिन ने लिखा है—"यदि एक देश में प्रॉलीटेरियट की डिक्टेटरशिप स्थापित हो जाय और और दूसरे देशों के श्रमजीवियों से सहायता न मिले तो उसकी

सफलता में एक भारी रुकावट पड़ जायगी।" मार्क्स ने स्वयं भी राष्ट्रीयता के अस्तित्व को स्वीकार किया, पर वह और उसके अनुयायी उसे पूँजीवादियों के लिए एक सहायक साधन समझते थे। साम्यवादियों का कहना है, कि स्वदेश-प्रेम न्यूनाधिक सब को ही होता है। पर उसे हृदय में से निकाल देना चाहिये। श्रमजीवियों का वास्तविक देश उनकी श्रेणी है। पूँजीवाद उन्हें शासन-शक्ति में भाग नहीं लेने देता। उनके देश की सब संस्थाएँ इस ढँग की हैं कि जिनके द्वारा वह अन्याय का शिकार बनाये जाते हैं। इसलिये उनका कर्तव्य बार्गंज़ू स्टेट को नाश करना है—उसकी रक्षा करना, जैसाकि महायुद्ध में किया गया था, अपने कर्तव्य से विमुख होना है। इससे तो ऐसा प्रतीत होगा कि उनके और उन पर अन्याय करनेवालों के हितों में समानता है। किसी भी देश-विशेष पर अधिकार करने के लिए वहाँ की सामयिक राजसत्ता पर अधिकार करना पड़ेगा और इसके लिए इस बात की आवश्यकता है कि दूसरे देशों के श्रम-जीवी भी सहायता करें। साम्यवादियों को कभी यह आशा नहीं करनी चाहिये कि वह शान्तिमय साधनों से अपना ध्येय प्राप्त कर सकते हैं। निरस्त्रीकरण पूँजीवाद के लिए असम्भव है; क्योंकि उसे तो नए बाज़ारों और कच्चे माल पर अपने प्रतिद्वन्दियों से युद्ध करके अधिकार करना पड़ता है। इसलिये जो लोग शान्तिमय साधनों के पक्ष में हैं, वह अपने अनुयाइयों को साम्यवादियों के साथ सहयोग करने से वंचित् रखते हैं। जब तक समाज में

श्रेणियाँ वर्तमान हैं, उस समय तक राष्ट्रीयता को अपने विचारों में स्थान देना अपने आदर्श के साथ विश्वासघात करना है। इस क्षेत्र में काम करनेवालों का अपने देश से केवल इतना ही सम्बन्ध है कि इस आनेवाली लड़ाई में वह उनका कार्य-क्षेत्र है। नैतिक औचित्य का तो उस समय तक कोई प्रश्न ही नहीं है, जब तक पूँजीवाद के पंजे से देश निकल न आवे।

३

साम्यवादियों के सिद्धान्त के अनुसार समाज के उद्देश्य और प्रकार मुख्यतया किसी समय विशेष की आर्थिक शैली पर निर्भर हैं। यह ऐतिहासिक सत्य पदार्थवाद के दृष्टि-कोण पर निर्धारित है। इसमें कुछ न्यूनताएँ हैं। पदार्थवाद में आध्यात्मिक तत्व को स्थान नहीं दिया गया। यदि इसे स्वीकार कर लिया जाय, और साम्यवादी भी इसके अस्तित्व को अस्वीकार नहीं करते, तो 'बकल' का यह विचार कि जल-वायु का ऐतिहासिक विकास पर प्रभाव पड़ता है, बहुत-कुछ न्याय-संगत हो सकता है। साथ ही समाज की स्थिति में परिवर्तन उपस्थित करने का कारण केवल आर्थिक स्थिति नहीं है—हाँ, इसे मुख्य कारण कहा जा सकता है। इसका तात्पर्य यह है कि मनुष्य अपने कर्तव्य का निश्चय परिस्थितियों से प्रेरित होकर करता है, और इन परिस्थितियों पर आर्थिक तत्वों का बहुत प्रभाव पड़ता है; क्योंकि जीवन की आवश्यकताओं को पूरा करना मनुष्य के लिए मुख्य महत्व का प्रश्न है।

यह इसका सरल रूप है। इसमें यह उचित प्रतीत होती है। आजकल की सभी बातें—जैसे, ठेके की प्रथा, वैवाहिकजीवन-विषयक क़ानून-आदि सब ही उत्पादन-शैली के आधार पर स्थित हैं, और इनमें परिवर्तन भी उसी के प्रभाव से होता है। कोई भी नौकरी करनेवाला यदि राज्य-व्यवस्था के विरुद्ध मुक़द्दमा चलाना चाहे तो उसे बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा। धर्म भी इसके प्रभाव से नहीं बच सका। यदि कोई व्यक्ति अपने व्यापार में सफल हो जाय तो यह ईश्वर की कृपा का लक्षण है, और दुःख और दरिद्रता उसके कोप का। अमरीका के विधान में भी बालक-बालिकाओं से मज़दूरी कराने के और मज़दूरी और काम करने के घण्टे आदि निश्चित करने के ऊपर पदार्थवादी सभ्यता की छाप मिलती है। मनुष्य-जीवन के सभी क्षेत्रों में इसका आधिपत्य है।

साथ ही इस बात को भी न भूलना चाहिये, कि बहुत-सी स्थितियों में आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति में अतिरिक्त विचार बाधक हो जाते हैं। व्यक्तिगत कार्य सदा इसकी प्रेरणा से नहीं होते, हालाँकि कुछ अंश मे इसका प्रभाव पड़ना सम्भव है। कभी-कभी किसी व्यक्ति-विशेष के राजनैतिक सिद्धान्तों पर ऐसी बातों का गहरा प्रभाव पड़जाता है, जैसे—अपने घरेलू जीवन के वातावरण के प्रति घृणा। धार्मिक और राष्ट्रीय आन्दोलन मनुष्य-जीवन में एक विशेष स्थान रखते हैं। यह अर्थवादी स्थिति के कारण नहीं होते। कैथोलिक मज़दूर का धर्म-प्रेम, बलकानों

की प्रबल प्रथकवादिता, जिसके फलस्वरूप सदा ही युद्ध छिड़ा रहता है, उनकी आर्थिक अधोगति का कारण है। इससे यह ज्ञात होता है कि कभी-कभी मनुष्य किसी विशेष आदर्श की भक्ति से इतना प्रभावित हो जाता है कि अपने सामान्य हितों के प्रति उदासीन हो जाता है, और अपने इस कार्य से उसे बहुत अधिक सन्तोष होता है। इतना सन्तोष सरल बुद्धि से कार्य करने में नहीं होता।

पदार्थवादी दृष्टि-कोण में यह मुख्य कमज़ोरी है। वह इस विश्वास पर निर्भर है, कि मनुष्य सदा सरल न्याय के अनुकूल आचरण करेगा। 'मिस्टर बर्ट्रेन्ड रसेल' ने लिखा है, कि संसार की महत्त्व-पूर्ण घटनाएँ पदार्थवादी परिस्थितियों और तीव्र मानसिक उद्वेगों के संघर्ष से घटित होती हैं। मानसिक उद्वेग की कृपा पर बुद्धि का थोड़ा-बहुत प्रभाव पड़ सकता है, पर वह बुद्धि के वशीभूत नहीं हैं। इसलिए किसी विशेष सामाजिक सत्ता की उत्पत्ति का आधार केवल यही नहीं है, कि मनुष्य किस प्रकार अपना भरण-पोषण करते हैं, बल्कि साथ ही यह भी है, कि उसमें उन्हें अपनी भावनाओं को सन्तुष्ट करने की कितनी गुआइश है। यह भी सम्भव है, कि मनुष्य एक ऐसी अर्थवादी शैली को, जो उनके लिए निश्चित रूप से लाभ-प्रद है, न स्वीकार करें, और एक दूसरी और कम लाभ-प्रद शैली को इस कारण से ग्रहण कर लें, कि उससे उनके हृदय को विशेष सन्तोष होता है। यदि किसी सामाजिक सत्ता में साहसी और क्रियाशील

व्यक्तियों के विकास की सम्भावना नहीं है, और बहु-संख्यक साधारण व्यक्ति उससे सन्तुष्ट भी हैं, तो भी उसमें परिवर्तन होना अनिवार्य है।

यह न्यूनताएँ ऐसी नहीं हैं, जो पदार्थवाद के दृष्टि-कोण को महत्वहीन सिद्ध करदें। साम्यवादियों ने इस दृष्टि-कोण का समावेश जिस प्रकार अपने सिद्धान्तों में किया है, उस पर विचार करने से इसमें अधिक कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जाती हैं। इनकी दो बातों के विरुद्ध समालोचकों ने संकेत किया है। एक तो यह, कि श्रेणियों में विरोध समाज में सदा ही नहीं बना रहता है, और दूसरी यह, कि मार्क्स ने इस धारणा के आधार पर भविष्य का जो भावी चित्र खींचा है, वह न्याय-संगत नहीं है।

जो लोग श्रेणी-विरोध के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते, वह दो युक्तियाँ देते हैं।—समाज की श्रेणियाँ कुछ अंश में परस्पर एक-दूसरी पर अवलम्बित हैं, और इस कारण से जो बात किसी एक श्रेणी के लिए हानिकर है, वह सब के लिए हानिकर होगी; तथा श्रेणियों में विरोध चाहे जितना अधिक बढ़ जाय, उसका एक-न-एक उपाय ऐसा अवश्य ही होता है, जो सब के लिए हितकर हो। साथ ही यह भी आपत्ति की जाती है, कि मार्क्स का जिस श्रेणी-जागृति से तात्पर्य है, उसका अस्तित्व नहीं है, और है भी तो बहुत ही अल्प संख्या तक सीमित है।

इस तर्क से साम्यवादियों के सिद्धान्तों को कोई हानि नहीं पहुँचती। मार्क्स श्रेणियों का परस्पर आश्रित होना स्वीकार

करता है। मुख्य बात तो यह है कि इस पारस्परिक आश्रय के फल-रूप जो अवस्था उत्पन्न होती है, उसमें पूँजीवादी सशक्त और श्रमजीवी शक्तिहीन होते हैं। और वास्तव में यह बात सत्य है। इतिहास में शायद ही कहीं ऐसा उदाहरण मिले, जब किसी सशक्त श्रेणी ने अपनी इच्छा से दूसरी श्रेणी के हितों के लिए अपने अधिकार छोड़े हों। निर्वाचन-पद्धति, शिक्षा, न्याय की व्यवस्था, उत्तराधिकार का क़ानून,-इत्यादि में जो कुछ भी संशोधन हुआ है, वह सशक्त श्रेणी की न्याय-प्रियता से नहीं हुआ, हर सुधार के लिए जनता को बलपूर्वक लड़ना पड़ा और शान्ति-भंग की धमकी या प्रयोग से सुधारों की प्राप्ति में विशेष सहायता मिली। मिस्टर ग्लैडस्टन ने कहा था कि यदि इङ्गलैण्ड के निवासी सदा शान्ति-पथ पर आरूढ़ रहते, तो अपने देश की स्वाधीनता कभी न प्राप्त कर पाते। सामाजिक श्रेणियों के परस्पर एक-दूसरे पर आश्रित होने को साम्यवादी स्वीकार करते हैं, पर साथ ही कहते हैं कि वर्तमान दशा में इससे श्रेणियों को समान लाभ नहीं है। क्या यह बात सत्य नहीं है?

दूसरी युक्ति भी विशेष ज़ोरदार नहीं है। समाज के अन्तर्गत इस प्रकार के झगड़ों में एक दल की माँग सदा औचित्य की मात्रा से अधिक होती है, और प्रतिद्वन्द्वी दलों को उन लोगों के हिताहित का ध्यान नहीं रहता, जिन पर इस झगड़े का दूर का प्रभाव पड़ता है। पर जो लोग यह कहते हैं कि ऐसी परिस्थिति में भी ऐसा उपाय सम्भव है कि जो सब के लिए न्यायपूर्ण है, वह

यह नहीं बतलाते कि इसका निश्चय कौन करेगा। यह कठिनाई देखकर साम्यवादियों का विश्वास है कि कोई इस प्रकार का समझौता करनेवाला नहीं मिल सकता। जो भी इसकी चेष्टा करेगा, वह चाहे कितना भी न्याय-प्रिय क्यों न हो, अपने संस्कारों से तो अवश्य ही प्रभावित होगा। पूँजीवादी सरकार से तो न्याय की आशा करना ही वृथा है। उसका ध्येय तो पूँजीवाद की रक्षा करना है, वह भला न्याय कैसे कर सकती है ? १९१९ ब्रिटेन में कोयले की खानों के मज़दूरों और मालिकों में झगड़ा होगया। सरकार ने उसका फ़ैसला किया। क्या यह फ़ैसला न्याय-संगत था ? जाँच के लिये कमेटी बनती है, और बड़े परिश्रम से अनुसन्धान करके अपना मत निश्चित करती है। पर उनकी जितनी बातें पूँजीपतियों के हित के प्रतिकूल होती हैं, वह या तो रद होजाती हैं, और यदि उनका उपयोग भी किया जाता है, तो इतने रूपान्तर के साथ कि उनका असली उद्देश ही नहीं रह जाता।

पदार्थवादी दृष्टिकोण को युक्ति-सङ्गत कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि उससे सब ऐतिहासिक परिस्थितियों की मीमांसा हो सकती है। मार्क्स की पुस्तकों के कुछ स्थल ऐसे हैं, जिनसे यह तात्पर्य निकल सकता है। वास्तव में उसका तात्पर्य यह नहीं था। उसने स्पष्ट कर दिया है कि इस विवेचना का उपयोग कुछ सीमाओं के अन्दर ही हो सकता है। वह जानता था कि यदि शैली मनुष्यों को प्रभावान्वित करती है तो इसकी प्रति-क्रिया भी होती है। अब यह देखना है कि साम्यवादियों का दावा क्या

है? वह कहते हैं कि अन्त में प्रॉलीटेरियट की विजय होगी। यह कहाँ तक उचित है? वर्तमान पूँजीवाद की दशा देखकर यह कहा जा सकता है कि संसार-भर में साम्यवाद के सिद्धान्त को लागू करने का फल यह नहीं होगा कि सब जगह एक ही-सी व्यवस्था स्थापित हो जाय, बल्कि यह अधिक सम्भव है कि भिन्न-भिन्न स्थानों की व्यवस्थाएँ भिन्न हों। इँग्लैण्ड-जैसे औद्योगिक देश पर इसका प्रभाव रूमानियाँ-आदि कृषि-प्रधान देशों से बिल्कुल भिन्न होगा। अमरीका पर उस देश के विशाल विस्तार के कारण, अपेक्षाकृत योरोप के अल्प विस्तार-वाले देशों से भिन्न प्रभाव पड़ना सम्भव है।

इसके अतिरिक्त यह भी सम्भव है कि यदि क्रान्ति विफल हो जाय, तो 'फ़ैसीज़्म' का सूत्रपात होना सम्भव है, और इस अवस्था में औद्योगिक संगठन का रूप ज़मींदारी सत्ता से मिलता-जुलता हुआ हो जायगा। पर मार्क्स का यह कहना कि एक विशेष उत्पादन-प्रणाली कुछ अनिवार्य नियमों के द्वारा परिवर्तित होकर सदा एक ही प्रकार की दूसरी प्रणाली में परिणत हो जायगी, भ्रमपूर्ण है। यह नियम केवल प्रवृत्ति पर अवलम्बित हैं, जो समय-समय पर बदला करती है। वास्तविकता और विचार की धाराओं के प्रवाह का तो साम्यवादी अस्तित्व स्वीकार करते हैं, पर इनकी प्रति-क्रियाओं के अस्तित्व की ओर साम्यवादियों ने ध्यान नहीं दिया।

इस सम्बन्ध में उस परिस्थितियों का उल्लेख करना उचित है,

जिनमें ऐसा विचार प्रकट करने के समय मार्क्स स्थित था। १७८७ और १८४८ की क्रान्तियों के आधार पर उसने यह परिणाम निकाला। इसमें उसने अपनी योग्यता का परिचय दिया, पर किसी-किसी स्थल पर उसकी आन्दोलनकारी प्रवृत्तियों ने उसके तात्विक ज्ञान पर आधिपत्य जमा लिया है। उसके विचारों में औचित्यवाद की अत्यधिक मात्रा है। आशावादिता भी बहुत है। जिस प्रकार टेनिसन का विश्वास था कि समस्त सृष्टि एक सुदूरवर्ती अलौकिक घटना की ओर अग्रसर हो रही है, उसी प्रकार मार्क्स को भी विश्वास है कि अनेक बार पराजित होकर भी अन्त में श्रमजीवी-दल विजयी होगा। समाज के विषय में उसकी धारणा ऐसी है, जैसी वैज्ञानिकों की प्राकृतिक नियमों के विषयों में। मानो उनका एक निश्चित नियम के अनुसार विकास होता जायगा। पर वास्तव में समाज की ऐसी दशा नहीं है। उसका जीवन केवल निश्चित प्रवृत्तियों का विकास-मात्र नहीं है। उसमें सदा नई-नई घटनाओं का सूत्रपात होता रहता है, जो हमारी आशाओं को निर्मूल सिद्ध कर देती हैं।

सामाजिक विकास के निश्चित नियमों पर विश्वास करने के कारण साम्यवाद ऐसी शक्तियों की उपेक्षा करता है, जो अर्थवाद के आधार पर स्थित नहीं हैं। यह भली प्रकार विदित है कि स्वदेश-प्रेम आर्थिक आवश्यकताओं की काफ़ी अवहेलना करता है। सामूहिक मनोवृत्ति का अस्तित्व भी संशय-रहित है। एक देश के मज़दूरों को अपने देश के पूँजीपतियों की अपेक्षा दूसरे

देश के मज़दूरों से अधिक प्रेम होना चाहिये; पर ऐसा देखने में नहीं आता। कुछ लोगों का यह भी कहना है कि मार्क्स ने मानव-जीवन पर धर्म के प्रभाव को भी काफ़ी महत्व नहीं दिया है।

साम्यवादी व्यवस्था के विषय में मार्क्स का विचार भी न्याय-संगत नहीं है। यदि संसार-व्यापी क्रान्ति हो भी जाय, तो उसका वह परिणाम निकलना कठिन है, जो मार्क्स ने निर्धारित किया है। वर्तमान सत्ता का मूलोच्छेद करने के लिए जिस भयंकर विध्वंसकारी प्रवृत्ति को जाग्रत् करना पड़ेगा, उसके कारण ऐसी स्थिति का आना, जिसमें कोमल प्रवृत्तियों का पुनर्निर्माण हो सके, बहुत ही कठिन है। दूसरी कठिनाई यह है कि वर्तमान श्रेणी-पद्धति का जब अन्त हो जायगा, उस समय सम्भव है, उनके स्थान पर नए प्रकार की श्रेणियाँ बन जायँ; जैसे—'डॉक्ट्रिनल एरिस्टोक्रेसी'। प्रभुता में बहुत मद होता है, और साम्यवादी भी इससे प्रभावान्वित हो सकते हैं। राजनैतिक क्षेत्र में यह और भी अधिक सुगमता से अधिकार कर लेती है, और क्या आश्चर्य है कि क्रान्ति को सफल बनानेवाले या उनके उत्तराधिकारी अपने अधिकार को न छोड़ना चाहें।

आदर्शवाद से आर्थिक व्यवस्था का जन्म होता है, और आर्थिकव्यवस्था से आदर्शवाद का। साम्यवाद इसमें से दूसरे सिद्धान्त को स्वीकार करता है, पर पहिले की ओर ध्यान नहीं देता।

साथ ही यह भी सम्भव है, कि यदि औद्योगिक सङ्गठन में

विशेष उन्नति हो जाय, और वैज्ञानिक अनुसन्धान से भविष्य उज्ज्वल दिखलाई देने लगे, तो पूँजीपति मज़दूरों की विशेष आवश्यकताओं को पूरी करने के लिए उद्यत हो जायँ। ऐसी दशा में मज़दूर भी राजनैतिक शक्ति को तिलाञ्जलि देकर बदले में सांसारिक सुख की सामग्री को स्वीकार कर लें, तो कोई असम्भव बात नहीं है। पूँजीवाद के अन्तर्गत परिवर्तन की गुंजाइश है, और अनुकूल परिस्थितियों में वह भी काफ़ी उन्नति कर सकता है। यदि उत्पादन में बहुत वृद्धि होजाय और इससे मज़दूरी की दर में भी वृद्धि होजाय, तो फल यह होगा कि क्रान्ति का कोई नाम भी नहीं लेगा, और मज़दूर सुख और सन्तोष से काम करने लगेंगे। मार्क्स का यह विचार, कि यदि पूँजीवाद व्यापकसुधार नहीं करेगा, तो उसका अन्त हो जायगा, ठीक है; पर यह कैसे कहा जा सकता है, कि इसका स्थान साम्यवाद लेलेगा? इसके कई कारण हैं। एक तो यह कि पूँजीवाद का अन्त हो जाने पर शायद साम्यवाद के बजाय अराजकता फैल जाय, और उसके बाद कोई ऐसी डिक्टेटरशिप स्थापित होजाय, जिसमें और साम्यवाद में बहुत अन्तर हो; और दूसरा यह कि मज़दूर-दल को विजय के बाद ऐसा अनुभव हो कि साम्यवाद की स्थापना सम्भव नहीं है। क्रान्ति के विषय में मार्क्स इससे अधिक कुछ नहीं कह सका है कि उत्पादन-प्रणाली में परिवर्तन के अनुसार समाज की व्यवस्थाओं में भी परिवर्तन हो जायगा। यदि यह मान लिया जाय, कि परिवर्तन के द्वारा समाज मौलिक

बन जायगा, तो उत्तम है; क्योंकि वर्तमान प्रणाली न्याय-रहित है। पर ऐसी कल्पना करना केवल कल्पना-मात्र है।

मार्क्स के क्रान्ति-सम्बन्धी विचारों के विषय में एक बात कही जा सकती है। इतिहास में बड़े-बड़े परिवर्तन सदा हिंसात्मक साधनों के द्वारा ही हुये हैं। यहाँ तक कि जब अधिकारियों को निश्चित रूप से पता लग गया कि ऐसा होनेवाला है, फिर भी उन्होंने सुधार-आदि देकर इसे रोकने का प्रयत्न नहीं किया। इसलिए यदि भविष्य के विषय में भी यही कल्पना की जाय, तो अनुचित न होगा।

हम बिना यथेष्ट कारण के इस कल्पना के आधार पर कोई परिणाम नहीं निकाल सकते। आज जिन लोगों के हाथ में शक्ति है, वह उसकी प्राण-पण से रक्षा करेंगे। हाँ, यह अवश्य है कि जनता में जागृति होने के कारण उनकी माँग ज़ोरदार होती जाती है, और इस कारण जनता की बात सुननी भी पड़ती है। और अब विप्लव से इतनी अधिक हानि होती है कि कोई भी सरकार जहाँ तक बन पड़ेगा, किसी प्रकार से उसे रोकने का प्रयत्न करेगी। एक बात यह और है, मार्क्स ने कहा था, कि मज़दूरों की दयनीय अवस्था के कारण ही क्रान्ति शीघ्र होगी। अब इन लोगों की दशा पिछले सौ वर्षों से उन्नति कर रही है। यदि यह उन्नति का क्रम जारी रहा, तो सम्भव है, ऐसी स्थिति आ जाय जब कि मज़दूरों की आवश्यक माँगें पूरी हो जायें।

इस समय इस विषय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा

सकता। वर्तमान सभ्यता कोई बहुत मज़बूत चीज़ नहीं है। एक ओर क्रांतिकारी शक्ति बड़े वेग से अपना कार्य कर रही है, और युद्ध या किसी और विपत्ति के समय अपना विध्वंस-कार्य कर सकती है, और दूसरी ओर वह शक्ति अड़ी हुई है, जो परिवर्तन का घोर विरोध करती है। लेनिन की रूस में वही स्थिति है, जो मुसोलिनी की इटली में। यह कहना भी भ्रान्तिपूर्ण है कि मज़दूर मार्क्स के बतलाये हुए श्रेणी-विभाग को उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं। शान्ति के समय यह सम्भव है, पर राज्य-क्रान्ति को उकसानेवाले सदा ही अल्प-संख्यक होते हैं, और उनकी प्रचार-शक्ति से बहुत ही शीघ्र जनता में जागृति उत्पन्न हो जाती है, और वह अवस्था हो जाती है, जिसकी मार्क्स की राय में आवश्यकता है। हमारे सन्मुख दो बातें मुख्य-तम हैं। एक यह कि परिवर्तन अनिवार्य है, और दूसरी यह कि मज़दूरों के साथ जो अन्याय किया जायगा, उसका विरोध होगा। यदि उन्नति के लिए निरन्तर और वास्तविक प्रयत्न न किया जायगा, तो मज़दूरों की संगठित शक्ति साम्यवाद की बातों को पूरा कर दिखलायेगी।

इससे यह प्रतीत होता है, इतिहास का पदार्थवादी दृष्टिकोण युक्ति-संगत है। साम्यवाद की बातों को पूरा होने से रोकने का उपाय यही है कि हम अपनी उदार नीति से उनको अनावश्यक सिद्ध कर दें। यह नहीं कहा जा सकता कि इसका प्रयत्न किया जा रहा है। अल्प-संख्यक व्यक्तियों के हित के लिए जन-समाज

के हितों की अवहेलना अब भी की जारही है। साम्यवादियों का यह दावा है, कि इस स्वार्थ की नीति में परिवर्तन नहीं होगा। इसके कारण श्रमजीवियों का ध्यान इनके विचारों की ओर जा रहा है। यदि इन लोगों को न्याय-प्राप्ति का दूसरा मार्ग न दिखलाया जायगा, तो वे इसी मार्ग पर अग्रसर होंगे। इतिहास की यही शिक्षा है।

तीसरा अध्याय

१

साम्यवादियों की आर्थिक नीति बहुत विवादास्पद है। मार्क्स के अनुयायी इसका इतना बलशाली समर्थन करते हैं, जैसा 'प्यूरिटन' लोग बाइबिल का या मुसलमान लोग क़ुरान का। इसके विषय में बड़ी-बड़ी आलोचनाएँ और प्रत्यालोचनाएँ हो चुकी हैं। जिसने भी इस प्रश्न की ओर ध्यान दिया, उसी ने एक नयी व्याख्या कर डाली। मार्क्स के अनुयायी इसे बहुत ही महत्वपूर्ण और उत्कृष्ट समझते हैं,—इसके विरोधियों की दृष्टि में यह बहुत दोषपूर्ण है। वर्गवादियों ने भी इसे स्वीकार नहीं किया है। बर्न्सटीन और उसके 'जर्मन'-अनुयाइयों ने इसके विषय में यह विचार प्रकट किया है, कि यह आर्थिक सत्यों पर निर्धारित नहीं है। इङ्गलैण्ड के फ़ेवियन्स ने 'मिल' और 'जीवोन' के आर्थिक

सिद्धान्तों को अपनाया है। फ्रेञ्च 'सिण्डिकलिस्ट्स' की सम्मति में मार्क्स के आर्थिक सिद्धान्त आन्दोलन-कार्य के लिए बहुत उपयोगी हैं, पर कार्य-क्षेत्र में अनुकरण करने के योग्य नहीं हैं। मिस्टर कीनीज़ अपनी पुस्तक 'दी एण्ड ऑफ़ लेइसेज़ फ़ेरी' में लिखते हैं—"मार्क्स के वर्गवाद ने इतिहास-लेखकों के सम्मुख यह जटिल प्रश्न उपस्थित कर दिया है, कि ऐसे थोथे विचार मनुष्य-समाज में किस भाँति प्रचलित होगए, और ऐतिहासिक घटनाओं पर प्रभाव डालने लगे।" असली बात, जिसके कारण श्रमजीवियों ने मार्क्स के उपदेशों को ग्रहण किया, यह है, कि उसने पूँजीवाद का जो चित्र खींचा है, वह श्रमजीवियों के कटु अनुभवों से मिलता-जुलता हुआ है। मार्क्स के सिद्धान्तों की आलोचना केवल इस दृष्टि से करना यथेष्ट नहीं है, कि उनमें कितना तत्त्व है; इस विषय में यह प्रश्न भी विचार करने योग्य है, कि वह इतने सर्व-मान्य क्यों होगए। यदि वह ठीक नहीं भी हैं, तो भी सम्भव है, उनके अनुसन्धान से हमें यह पता लग जाय, कि समाज की असली आवश्यकताएँ क्या हैं।

२

मार्क्स के आर्थिक विचार दो बातों पर निर्धारित हैं। एक ओर उसने 'लेबर थिओरी ऑफ़ वैल्यू' को विकसित रूप दे दिया है, और दूसरी ओर उसने उसके-द्वारा यह सिद्ध करने की चेष्टा की है, कि एक चीज़ बनाने में जो व्यय होता है, और जिस मूल्य में वह बिकती है, इन दोनों में अन्तर होता है। बिकने का मूल्य अधिक

होता है। यह अतिरिक्त मूल्य है। इस पर न्याय की दृष्टि से मज़दूरों का हक़ है, पर पूँजीपति इसे हड़प लेते हैं।

मार्क्स के विचार में पूँजीवादी नाना प्रकार का बहुत माल तैयार कराते हैं। यह मनुष्य-जीवन के लिए आवश्यक हैं, इनकी उपयोगिता के कारण ही इनका मूल्य है। व्यापार इसी 'मूल्य' के आधार पर स्थित है। वही चीज़ें बनाई जाती हैं, जिनकी दूसरे लोगों को आवश्यकता है। यदि ऐसा न हो, तो माल का बिकना ही असम्भव हो जाय। अब जो माल भी बनता है, उसे उपयोग करनेवाले तक पहुँचने के पहिले ऐसे स्थानों पर जाना पड़ता है, जहाँ पर बहुत-सी तरह के माल का एक-दूसरे के साथ परिवर्तन होता है। इसलिए माल का केवल उपयोग-सम्बन्धी मूल्य ही नही होता, वरन् परिवर्तन-सम्बन्धी मूल्य भी होता है। पहिले प्रकार का मूल्य उपयोग करनेवाले के लिए है, और दूसरे प्रकार का मूल्य उन लोगों के लिए है, जिनके पास पहिले पहुँचकर माल में परस्पर परिवर्तन होता है। उपयोग करनेवाले को केवल उपयोग-सम्बन्धी मूल्य से ही काम है। पर माल बनानेवाले को, थोक-व्यापारी को और साधारण व्यापारी को परिवर्तन-सम्बन्धी मूल्य से भी प्रयोजन है, कि एक वस्तु-विशेष के परिवर्तन में कितनी और वस्तु-विशेष देने की आवश्यकता है। आजकल परिवर्तन-सम्बन्धी मूल्य ही बाज़ार-भाव का आधार है, और इसके नाप के लिए सिक्कों से काम लिया जाता है। अब यह देखना है, कि एक माल का परिवर्तन-सम्बन्धी मूल्य किस प्रकार निश्चित होता है।

सिक्का, जैसा कि पहिले कहा जा चुका है, परिवर्तन-सम्बन्धी मूल्य का माप है, इसलिए सिक्का देने में और किसी और वस्तु के देने में कोई अन्तर नहीं है। सिक्का तो केवल सुविधा के लिए है। इसलिए परिवर्तन-सम्बन्धी मूल्य के निश्चय करने में हमें एक वस्तु के विशेष गुणों की ओर ध्यान नहीं देना पड़ता है—केवल एक ऐसे गुण को दृष्टि में रखना पड़ता है, जो सब वस्तुओं में वर्तमान है। इस विवेचन के बाद यह प्रतीत होता है, कि परिवर्तन-सम्बन्धी मूल्य का आधार 'मज़दूरों के परिश्रम का सामूहिक रूप है।' इसलिए एक वस्तु का मूल्य वह परिश्रम है, जो उस वस्तु के बनाने में व्यय हुआ है। इसका तात्पर्य यह है, कि यदि एक वस्तु को बनाया जाय, तो हर बार जितना परिश्रम उसके बनाने पर व्यय करना पड़ेगा, वही उस वस्तु का मूल्य है। मार्क्स की सम्मति में इस परिश्रम को समय-द्वारा नापकर हम मूल्य निश्चित नहीं कर सकते। उस परिश्रम को नापने के लिए उसने सामाजिक उपयोगिता का पैमाना रक्खा है, जिसका अर्थ यह है, कि वर्तमान विशिष्ट उपायों के द्वारा जितने समय में एक वस्तु तैयार हो सके; यदि उपाय की उन्नति के कारण कम समय में वही काम होने लगे, तो मार्क्स ने स्वीकार किया है, मूल्य घट जायगा।

श्रम (Labour) दो प्रकार का है। एक तो ऐसा श्रम, जो कानों में काम करनेवाले, क्लर्क, संगतराश-आदि करते हैं। इसका परिवर्तन-सम्बन्धी मूल्य अलग भागों में बाँटा नहीं जा

सकता। एक वस्तु के तैयार करने में जितने प्रकार का श्रम व्यय हुआ है, उसे सामूहिक रूप में ही लेना पड़ेगा। उत्पादन में जो श्रम व्यय होता है, उसी के आधार पर परिवर्तन-सम्बन्धी मूल्य निश्चित किया जाता है। इस श्रम के भिन्न-भिन्न प्रकार हैं; जैसे, एक दक्ष कारीगर का श्रम और काम न जाननेवाले का श्रम, मस्तिष्क से काम करनेवाले का श्रम और हाथ से काम करनेवाले का श्रम। इनमें अन्तर परिमाण-विषयक है। इसके करने के लिए श्रम-शक्ति को व्यय करना पड़ता है। जैसे, न जाननेवाले के श्रम से एक हिस्सा काम होता है, तो दक्ष कारीगर के श्रम से पाँच या दस हिस्से काम होता है। इस प्रकार हम व्यक्तियों की उपयोगिता का अन्दाज़ा लगाकर उनकी मज़दूरी निश्चित कर सकते हैं। इसका तरीक़ा यह है, कि जो वस्तु इस श्रम के द्वारा तैयार हुई है, उसका बाज़ार में परिवर्तन-सम्बन्धी मूल्य जान लिया जाय। इस परिवर्तन के समय श्रम-द्वारा उत्पन्न की गई भिन्न-भिन्न वस्तुओं का मूल्य निश्चय करने के लिए इन सब वस्तुओं को एक ही धरातल पर लाना पड़ता है, और इस पर उनकी विशेष उपयोगिता का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इसलिए मूल्य बाज़ार पर निर्भर है। यह एक ऐसा कार्य है, जिसे दो पक्षों के परस्पर सहयोग से करना पड़ता है,—बेचनेवाले के और ख़रीदनेवाले के। यदि एक पक्ष चाहे, कि अपनी सम्मति से मूल्य निश्चित कर दे, तो यह असम्भव है। यह दोनों की सम्मति पर निर्भर है, और इस प्रकार जो मूल्य निश्चित होता है, वह समाज के

लिए आवश्यक श्रम का मूल्य है। यह मार्क्स का मन्तव्य है।

यहाँ दो बातें ध्यान देने योग्य हैं। मार्क्स ने जिस 'श्रम-शक्ति' की व्याख्या की है, वह इतनी विस्तृत है, कि उसमें सब प्रकार का श्रम, जिस का परिवर्तन-सम्बन्धी मूल्य हो सकता है, आ जाता है; चाहे वह मस्तिष्क का हो या शारीरिक हो। मार्क्स ने आन्दोलन के लिए अपने विचारों को संकुचित करके शायद यह कह दिया हो कि एक वस्तु के मूल्य का पूरा श्रेय मज़दूरों को है; उसमें और किसी का हक़ नहीं है, पर जिस समय मार्क्स इस प्रश्न पर गम्भीरता से विचार करता है, तो ऐसी कोई त्रुटि उसके विचारों में नहीं आने पाती। सब प्रकार श्रम, प्रबन्धक का, पूँजी लगानेवाले का, हाथ से या मस्तिष्क से काम करने वाले का,—सारांश यह कि जितने भी प्रकार के समाज के लिए आवश्यक श्रम एक वस्तु के बनाने के लिए आवश्यक हैं—उन का माल के परिवर्तन-सम्बन्धी-मूल्य में भाग है। इसलिए किसी का यह कहना, कि अपनी व्याख्या में उसने साधारण और दक्ष श्रम के वास्तविक अन्तर की ओर ध्यान नहीं दिया, उचित नहीं है। यह दोष लगाना भी युक्ति-संगत नहीं है कि उसने विशेष प्रकार के श्रमों का उल्लेख नहीं किया, जैसा शेक्सपियर की पुस्तकें, या एक ऐसा हीरा जो अकस्मात् किसी को मिल जाय। मार्क्स का उद्देश्य पूँजीवादियों की उत्पादन-शैली की साधारण स्थिति पर प्रकाश डालना था, और यह उसने ठीक किया।

हाँ, एक कठिनाई है। मार्क्स का कहना है, कि एक वस्तु का मूल्य इस पर निर्भर है कि उसकी तैयारी में कितना सामाजोपयोगी श्रम हुआ है; इसका निश्चय परिवर्तन-सम्बन्धी मूल्य से होता है। पर परिवर्तन-सम्बन्धी मूल्य के निश्चय करने में कुछ ऐसी और भी बातें हैं, जिन्हें मार्क्स ने अपने विचारों में स्थान नहीं दिया है। यदि हम कहें कि (१) एक वस्तु का मूल्य इस पर निर्भर है कि उसके उत्पादन में कितना आवश्यक श्रम व्यय हुआ है (२) इसका ठीक निश्चय विनिमय-सम्बन्धी मूल्य के आधार पर होता है। (३) और विनिमय का दर वस्तु के मूल्य से निश्चित होता है, तो इसका मतलब तो यही हुआ कि एक मूल्य दूसरे मूल्य पर निर्भर है। यह ठीक नहीं। और शायद मार्क्स ने भी इस बात को अनुभव किया; क्योंकि उसने स्वीकार किया है, कि यदि एक वस्तु आवश्यकता से अधिक बना डाली जायगी तो उसका मूल्य गिर जायगा। उसने इस बात को इस ढँग से लिखा है—"यदि एक जुलाहे का बनाया हुआ कुल कपड़ा बाज़ार में नहीं खपता तो इससे पता चलता है कि समाज के श्रम का आवश्यकता से अधिक भाग इस तरह का कपड़ा बनाने में व्यय हुआ है।" इससे परिणाम यह निकलता है कि माल की तैयारी और माग का सम्बन्ध भी मूल्य के निश्चय पर प्रभाव डालता है। इसका अभिप्राय यही है कि मूल्य केवल-मात्र श्रम पर ही निर्भर नहीं है। इससे मतलब यह नहीं है कि श्रम मूल्य के निश्चय में एक प्रधान अंग नहीं

है। पर इसका यह मतलब अवश्य है कि इसके अतिरिक्त और बातों को भी स्वीकार करना चाहिये।

मार्क्स ने अपना अतिरिक्त-मूल्य का मन्तव्य इसी आधार पर स्थापित किया है कि श्रम ही मूल्य का केवल-मात्र आधार है। यह उसके अर्थ-सम्बन्धी विचारों का मुख्य आधार है। इस की आवश्यकता भी उसे थी। साम्यवाद के हित के लिये उसे यह सिद्ध करना था कि मज़दूरों और पूँजीपतियों में एक ऐसी प्रतिकूलता है, जिसका निराकरण असम्भव है। इस बात में उसे अतिरिक्त-मूल्य के मन्तव्य से सहायता मिली। उसके विचार में समाज के विकास में एक ऐसा समय आ जायगा, जब स्वाधीन मज़दूरों की एक श्रेणी बन जायगी; वह पहिले की भाँति गुलाम नहीं होंगे। उनके पास माल बनाने के साधनों का अभाव होगा और वह मज़दूरी पर काम करना चाहेंगे। पूँजीपति उनके श्रम को ख़रीदकर उसके द्वारा मशीनें-आदि चलवाकर माल तैयार कराएँगे। जो माल बनेगा, उसे पूँजीपति अधिक-से-अधिक मूल्य पर बेचेंगे। यह मूल्य माल के तैयार करने में हर प्रकार से जितना व्यय हुआ है, उससे काफ़ी अधिक होगा। यह भी ध्यान रखने योग्य बात है कि मशीन-आदि बिना आदमियों के नहीं चल सकतीं, इसलिये मूल्य मज़दूरों के उस श्रम का परिणाम है, जो उन पर किया गया है। अतएव श्रम-शक्ति के द्वारा उपार्जित मूल्य, मज़दूरी, औज़ार, कच्चे-माल आदि पर जो कुछ व्यय हुआ है, उससे अधिक है। इन बातों में जो कुछ व्यय

हुआ है, और जितना मूल्य इस माल के बिकने पर मिलता है, इन दोनों का अन्तर मार्क्स के विचार में, अतिरिक्त-मूल्य है, और पूँजीपति इस सब को हड़प कर जाता है। इस प्रकार श्रमजीवी इस अतिरिक्त-मूल्य से वंचित रह जाते हैं; हालाँकि हक़ उन्हीं का है।

क्यों? इसलिए कि, मार्क्स ने कहा है—"श्रम का मूल्य और वस्तुओं के मूल्य की तरह, इसी नियम से निश्चित किया जाता है, कि उसके उत्पादन के लिये कितने श्रम-काल की आवश्यकता है.......श्रम-शक्ति का मूल्य उतना ही है, जितने में मज़दूर गुज़ारा कर सके।" अगर पाँच आने में एक मज़दूर गुज़ारा कर सकता है, तो उसकी मज़दूरी पाँच आने है। यदि उसकी पाँच घण्टे की मज़दूरी से पाँच आने का लाभ होता है, तो पाँच घण्टे के अलावा वह जितना काम और करता है, उससे जो कुछ भी लाभ होता है, वह उसका मालिक ले लेता है। वास्तव में मज़दूर को अधिक काम करना ही पड़ता है, और इसलिए वर्तमान व्यवस्था श्रम-शक्ति ख़रीदने के साथ-साथ अतिरिक्त-मूल्य का लाभ भी ख़रीद लेती है, जो श्रम-शक्ति के मूल्य के अतिरिक्त है। इसलिए मज़दूरी अतिरिक्त मूल्य के साथ बढ़ती-घटती नहीं। वह श्रम-शक्ति के मूल्य के साथ घटती-बढ़ती है, जिसका अतिरिक्त-मूल्य से कोई सम्बन्ध नहीं। पूँजीपति को घण्टे बढ़ा देने के द्वारा या और उपायों द्वारा अतिरिक्त मूल्य बढ़ाने में लाभ है, इसलिये वह सदा इसके लिए प्रयत्नशील

रहता है। मज़दूर को मज़दूरी मिलती है; हालाँकि लाभ उसके श्रम के कारण ही हुआ है, और इसलिए उसे मिलना चाहिये। मज़दूर के साथ यह अन्याय होता है। इस कारण पूँजीवाद मज़दूरों के लिए अत्यन्त हानिकर है।

इस स्थान पर इसके मुख्य सिद्धान्त को समझने का यत्न करना उचित है। उत्पादन के लिए इस प्रकार की सामग्री अनि-वार्य है; जैसे इमारतें, कच्चा माल, कले-आदि। इन चीज़ों में स्वयं माल तैयार करने की शक्ति नहीं है। यह मार्क्स के मत के अनुसार स्थाई पूँजी है। उत्पादन में आवश्यक क्रिया श्रम-शक्ति से होती है, और इसे मार्क्स ने परिवर्तन-शील पूँजी कहा है। इसलिए उत्पादन-कार्य में जो लोग अपनी श्रम-शक्ति नहीं लगाते, उनका उत्पादित वस्तु के मूल्य में कोई भाग नहीं है। इस दृष्टि से जो कोई भी उत्पादन में श्रम-शक्ति व्यय नहीं करता, और उस में भाग ले लेता है, वह मज़दूरों के साथ अन्याय करता है। मार्क्स की सम्मति में पूँजी लगानेवाले और दूसरे लोग, जिनके हाथ में होकर उत्पादित वस्तु उपयोग करनेवाले तक पहुँचती है, श्रम-शक्ति-द्वारा सहायता न पहुँचने के कारण उस वस्तु के मूल्य के भागी नहीं हैं।

इस सिद्धान्त की हम सहज ही में जाँच कर सकते हैं। यदि यह मान लिया जाय, कि परिवर्तन-शील पूँजी ही अतिरिक्त-मूल्य या नफे को उत्पन्न करती है, तो जिस व्यापार में जितना ही अधिक इस का उपयोग किया जायगा, उसमें उतना ही

अधिक अतिरिक्त-मूल्य या नफ़ा होना चाहिये, और इसकी कमी से कम नफ़ा होना चाहिये। पर यह बात अनुभव से ठीक सिद्ध नहीं होती। मार्क्स ने स्वयं ही स्वीकार किया है कि व्यापार-विषयक अनुभव बतलाता है कि नफ़े का परिमाण क़रीब-क़रीब बराबर होता है, या दूसरे शब्दों में, जितनी पूँजी लगाई जाती है, उसमें स्थायी और परिवर्तन-शील का चाहे जिस मात्रा में सम्मिश्रण हो, उसी के अनुसार उसका अतिरिक्त मूल्य होता है। मार्क्स ने स्पष्ट कर दिया है कि अतिरिक्त-मूल्य की वास्तविक दशा वैसी नहीं है, जैसी ऊपरी अनुभव-द्वारा इस विषय में कल्पना की जाती है। इस प्रकार मार्क्स की पहली बात में और इस बात में विरोध है। इस विरोध को किस प्रकार दूर किया जाय ?

मार्क्स के जीवन-काल में उसके ग्रन्थ का एक ही भाग प्रकाशित हुआ था। उसमें इस विषय में कोई चर्चा नहीं है। उसकी मृत्यु के बाद उसके प्रिय सहकारी इँगले ने उसके सब लेखों को एकत्रित करके दूसरा और तीसरा भाग प्रकाशित कराया। तीसरे भाग में इस विषय की चर्चा है। उसमें इस विरोध का कारण, व्यापार में प्रतियोगिता बतलाई गई है। कोई व्यक्ति, जो व्यापार करता है, इतना नफ़ा नहीं प्राप्त कर पाता है, जो उस व्यापार-विशेष में समुचित अतिरिक्त-मूल्य के बराबर हो, पर कुल व्यापारों के अतिरिक्त-मूल्य को यदि एक साथ जोड़ लिया जाय, तो उससे नफ़े के परिमाण का औसत निकल सकता

है। "जितने व्यक्ति अपनी थोड़ी-बहुत पूँजी लगाकर व्यापर करते हैं," मार्क्स ने लिखा है—"उनकी अवस्था एक हिस्सेवाली कम्पनी (Stock Company) के हिस्सेदारों (Stock-Holders) की-सी है। इसमें सिस्सेदारों में बराबर नफ़ा बाँटा जाता है। यदि किसी को कम और किसी को अधिक भाग मिलता है, तो उसका कारण केवल यह है कि जिसके पास अधिक हिस्से हैं, उसे उसी हिसाब से अधिक और जिसके कम हिस्से हैं, उसे उसी हिसाब से कम मिलता है। इसकी अवस्था और एक लेन-देन करनेवाले व्यापारी की अवस्था में समानता है। "यह इसी प्रकार है," मार्क्स ने लिखा है—"जैसे एक लेन-देन करनेवाले व्यापारी ने अलग-अलग सूद पर रुपया उधार दे रक्खा हो, और उसका औसत निकाल लिया जाय। यह औसत इस पर निर्भर है कि उसने किस-किस समय पर किस-किस सूद पर रुपया लगाया। इसलिए, हालाँकि कुल नफ़ा कुल अतिरिक्त-मूल्य के बराबर है, पर यह बात यदि हम अलग-अलग हर व्यापार में देखना चाहें, तो सम्भव नहीं है। स्थायी और परिवर्तनशील पूँजी के सम्मिश्रण के परिमाण में यदि कमी-ज़्यादती कर दी जाय, तो किसी एक व्यापारी के व्यापार में इसके प्रभाव के चिन्ह हमें नहीं मिलेंगे। पर जैसे-जैसे पूँजीवाद उन्नति करता जाता है, यह नियम अधिक स्पष्टता से प्रकट होता जारहा है। इस उन्नति के परिणाम-स्वरूप स्थिर पूँजी में वृद्धि होती जाती है; क्योंकि कलों का प्रयोग बढ़ रहा है, और परिवर्तन-

शील पूँजी में कमी होती जाती है। इस अतिरिक्त-मूल्य का औसत धीरे-धीरे बराबर होता जाता है। यही कारण है कि नफ़ा भी बराबर होता जाता है।"

वह कठिनाई, जिसे दूर करने के लिए यह व्याख्या की गई है, इससे दूर नहीं होती। मार्क्स ने १८६५ में तो यह कहा था कि चीज़ों का बाज़ार-भाव इस पर निर्भर होगा कि उनके उत्पादन में कितनी श्रम-शक्ति व्यय हुई है, और यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया था कि उत्पादित वस्तुओं को ठीक मूल्य पर बेचने से जो मूल्य मिलता है, उसी में नफ़ा भी शामिल है, और बाद में इँगले-द्वारा प्रकाशित पुस्तक में उसने इससे बिलकुल भिन्न 'मूल्य' की व्याख्या की है। 'मूल्य क्या है?' "जो कुछ उत्पादन में व्यय होता है, और लाभ की मात्रा का जोड़।" इसलिए लाभ का आधार केवल अतिरिक्त-मूल्य ही नहीं है, वरन् उस पर प्रतियोगिता का भी प्रभाव पड़ता है। यह बात इसके विरुद्ध है कि उत्पादित वस्तुओं के पारस्परिक परिवर्तन का आधार यह है कि किस वस्तु के उत्पादन में कितनी श्रम-शक्ति व्यय हुई है। "यदि पूँजीपति सब-का-सब अतिरिक्त-मूल्य या लाभ न लेलें..." बल्कि केवल इसका वह उचित भाग ही लें, जो उनकी पूँजी के हिसाब से उनके हिस्से में पड़ता है," तो प्रतियोगिता का फल यह होगा कि अपने उचित भाग से कम ही लाभ लेकर उन्हें सन्तुष्ट होना पड़ेगा। इसलिए मूल्य के निश्चय पर प्रतियोगिता का भी काफ़ी प्रभाव पड़ता है। और इससे यह परिणाम

निकलता है कि कुल अतिरिक्त-मूल्य तब तक वसूल नहीं होता, जब तक माल उत्पादक के हाथ से निकलकर और सब आवश्यक स्थानों पर होकर उपयोग करनेवाले के हाथ तक न पहुँच जाय। हमें ठीक अतिरिक्त मूल्य का उस समय तक पता नहीं लग सकता, जब तक यह न मालूम होजाय कि उपयोग करनेवाले ने उसे किस मूल्य पर ख़रीदा है। पर इसका यही तात्पर्य हुआ कि एक वस्तु का मूल्य इस पर निर्भर है कि वह बाज़ार में किस मूल्य पर बिकती है; याने उसके मूल्य पर।

मार्क्स के मूल्य-विषयक विचारों की परीक्षा करने से पहले हमें यह देखना है, कि मार्क्स ने उसके आधार पर क्या परिणाम निकाले हैं। पूँजीवादी नफ़ा या अतिरिक्त-मूल्य वसूल करना चाहता है। यही उसकी मनोवृत्ति है। इसमें अधिक सफलता प्राप्त करने के लिये वह उत्पादन के उपायों में परिवर्तन करता रहता है। आरम्भिक अवस्था यह थी, कि श्रमजीवी चारों ओर बिखरे हुए थे, और अपनी-अपनी दस्तकारी में तल्लीन थे। वह उनको संगठित करके कारख़ाना खोलता है, और इस प्रकार उनकी श्रम-शक्ति से अतिरिक्त-मूल्य प्राप्त करने का उपाय करता है। संगठन के कारण उत्पादन अधिक होता है। विज्ञान-द्वारा उसमें और तीव्रता उत्पन्न होजाती है। लगातार अधिक समय तक काम होने के कारण अतिरिक्त-मूल्य बहुत बढ़ जाता है। पर अब श्रमजीवी लोग अपनी दशा से असन्तुष्ट होकर विरोध करते हैं। वह यह शिकायत करते हैं, कि उनका स्वास्थ्य और सुख

बिल्कुल नष्ट होता जाता है। औरतों और बच्चों को कड़ी मेहनत करते देख, न्याय-प्रिय मनुष्य इस स्थिति से बहुत असन्तुष्ट हो जाते हैं। इस स्थिति में पूँजीपति इसलिये विवश किया जाता है, कि काम के घण्टे कम कर दे।" इस कमी से अतिरिक्त-मूल्य में कमी आ जाती है। इस कमी को दूर करने के लिये वह कलों का अधिकता से प्रयोग करने लगता है। इसका परिणाम यह होता है, कि श्रम-शक्ति की आवश्यकता होजाती है; स्थायी पूँजी बढ़ती है, और परिवर्तनशील पूँजी घट जाती है। इससे बेकारों की फ़ौज बढ़ने लगती है, और लाभ का औसत कम होजाता है। यह बेकारों की फ़ौज इस उत्पादन-शैली का एक स्थायी अंग होजाती है।

इसका एक परिणाम और होता है। स्थायी पूँजी का उपयोग बढ़ने के कारण छोटी पूँजीवालों का मुक़ाबला नहीं कर सकते। अपेक्षाकृत अतिरिक्त-मूल्य पर एकाग्रता के कारण या तो छोटी पूँजीवाला व्यापार करना बन्द कर देता है, या उसे कई आदमियों के साथ मिलकर अपना संगठन बनाकर काम करना पड़ता है। इस प्रकार ऐसे लोग, जिनका उत्पादन के साधनों पर अधिकार होता है, धीरे-धीरे कम होते जाते हैं, और पराधीन मज़दूरी करनेवालों की संख्या बढ़ती जाती है। अब मज़दूरी करनेवाले इतने होजाते हैं, कि उन सब को पूरा काम नहीं मिलता, और वह अपनी विपत्तियों के कारण अपनी दशा की ओर ध्यान नहीं दे सकते। इस प्रकार बाज़ार में मज़दूरों के काम

की उतनी माँग नहीं होती, जितने मज़दूर होते हैं।

मार्क्स ने इस प्रणाली के प्रभाव के विषय में एक स्थान पर लिखा है—"सामाजिक उत्पादन को बढ़ाने के लिये जिन साधनों का प्रयोग किया जाता है, वह सब मज़दूरों के लिये व्यक्तिगत रूप से हानिकर होते हैं। उत्पादन को उन्नत करने के सब साधनों के प्रयोग का अनिवार्य फल यह होता है, कि मज़दूरों को ज़्यादा दबना पड़ता है। उनका इतना पतन होजाता है, कि वह अपना मनुष्यत्व खो बैठते हैं, और कल के एक पुरज़े की तरह काम करने लगते हैं। उनके कार्य में कोई कारीगरी नहीं रह जाती, उन्हें केवल परिश्रम ही करना पड़ता है। ज्यों-ज्यों विज्ञान और व्यापार में सहयोग की वृद्धि होती जाती है, मज़दूरों के काम में मस्तिष्क के प्रयोग की गुंजाइश कम होती जाती है। उसे जिस दशा में काम करना पड़ता है, वह बहुत भयानक होजाती है, और उसके प्रभाव से उनका घोर मानसिक पतन होजाता है। उनका जीवन-काल मज़दूरी के घण्टों में परिणत होजाता है, और उनके बीवी-बच्चे भी निरीह पूँजीवाद के अत्याचार के शिकार होते हैं। साथ-ही-साथ अतिरिक्त-मूल्य की वृद्धि के जितने उपाय हैं, उनका एक यह भी फल है, कि उनसे पूँजी मे वृद्धि भी होती है। जिस समय पहले से अधिक पूँजी होजाती है, उन उपायों को उन्नत करने की चेष्टा की जाती है। इससे परिणाम यह निकलता है, कि पूँजी जितनी बढ़ती है, मज़दूरों की, चाहे वह कम मज़दूरी पानेवाले हों या अधिक, दशा ख़राब होती

जाती है। यदि एक सिरे पर पूँजी में वृद्धि होगी, तो दूसरे सिरे पर दुःख, दरिद्रता, कटु परिश्रम, ग़ुलामी, मूर्खता, पशुता, मानसिक पतन में वृद्धि होगी। यह अधःपतन उस श्रेणी का है, जिसके श्रम से उत्पादन-द्वारा पूँजी की वृद्धि होती है।"

साम्यवादी इस बात को स्वीकार करते हैं, कि पूँजीवाद से पूर्व जो व्यवस्था थी, वह पूँजीवाद से कहीं अधिक ख़राब थी, और पूँजीवाद के द्वारा उस समय की आर्थिक व्यवस्था में काफ़ी उन्नति हुई। वह तो केवल इस बात पर ज़ोर देते हैं, कि पूँजीवाद के अन्दर पूँजीवाद के पतन का अङ्कुर वर्तमान है। पूँजीवाद में परस्पर विरुद्ध सिद्धान्तों का समावेश है, इसलिये वह नष्ट होजायगा। चूँकि इसका उद्देश्य लाभ उठाना है, वह सदा अतिरिक्त-मूल्य की वृद्धि करने के प्रयोजन से स्थिर-पूँजी की वृद्धि करता रहता है। इससे लाभ के परिणाम में कमी होती जाती है, और उसे पूँजी को एकाग्र करने का अधिक प्रयत्न करना पड़ता है। छोटे पूँजीवाले और बीचवाले इससे लोप होजाते हैं, बेकारों की फ़ौज बढ़ती जाती है, आबादी में वृद्धि होती है, ग़रीबी बहुत बढ़ जाती है, और लोगों के पास बेकारी के कारण सामान तक ख़रीदने के लिए धन नहीं होता, और बिक्री कम हो जाती है। माल तो अधिक परिमाण में बनता है, और खपत कम होजाती है। इससे वह विपत्तियाँ स्थायी होजाती हैं, जो आधुनिक सभ्यता का एक अंग होगई हैं। इस तरह पूँजी का ठीक उपयोग नहीं हो पाता, उत्पादन में 'मोनोपुली'

(Monopoly) और 'कॉम्बिनेशन' (Combination) के द्वारा कमी की क़ैद लगानी पड़ती है, और समाज की उत्पादन-शक्ति का सब के हित में पूरा उपयोग नहीं होने पाता।

पर इतना ही नहीं है। जिस समय मार्क्स ने यह विरुद्ध घोषणा की थी, उस समय पूँजीवाद की त्रुटियाँ अच्छी तरह प्रकाश में नहीं आई थीं। अब उनका परिणाम हमें साम्राज्यवाद और युद्ध के रूप में दिखलाई देता है। लेनिन ने अपने 'इम्पीरियलिज़्म' में इसका पूरा चित्र खींच दिया है। स्थायी पूँजी पर निर्भर होने की आवश्यकता बढ़ने के साथ-साथ इस बात की भी आवश्यकता बढ़ती है कि संसार में हर जगह के कच्चे माल पर अधिकार किया जाय। शासन पद्धति पूँजीवादियों की सहायक होती है; और इनकी पारस्परिक प्रतियोगिता के कारण पूँजीवादियों में एशिया, अफ्रीक़ा- आदि के विषय में झगड़ा होता है। पूँजी की बहुत आवश्यकता पड़ती है, और यथेष्ट पूँजी उपलब्ध करने के लिये औद्योगिक और बैंकों की पूँजी में ऐक्य स्थापित करना पड़ता है, जिसके कारण राष्ट्र की सम्पूर्ण सम्पत्ति पर एक छोटी-सी टुकड़ी का अधिकार होजाता है। एकाधिकृत्य पूँजी बड़ी शीघ्रता से बढ़ती है। इसके कारण हर जगह संघों का प्रभुत्व होजाता है, चीज़ें महँगी होजाती है, और अन्यायी राज्य-शक्ति कुछ व्यक्तियों के लाभ के लिए बहुत बड़ी जन-संख्या का अहित करके पूँजी बाहर भेजती है। यह लोहे और सोने का युद्ध होजाता है, और इसका फल यह होता है कि जनता के लिए

उपयोगी न सिद्ध होने के कारण पूँजीवाद का अन्त होजाता है।

इस समय उसका संगठन इतना बड़ा होगया है, कि उसे अपना काम पूरा करने के लिए नियंत्रित कार्यकर्ताओं की सेना की आवश्यकता है, जो आँख बन्द करके उसकी आज्ञा का पालन करें। पर श्रमजीवी अब बजाय आज्ञा-पालन करने के विरोध करने लग गए हैं। उनके हित पालकों के हित के प्रतिकूल हैं। आपस में मज़दूरों में जो भिन्न-भिन्न दल थे, वह अपने अन्तर को दूर करके एकता के सूत्र में बँध गए हैं; क्योंकि उन्होंने समझ लिया है, कि उन सब का हित एक ही बात में है, और उनके शत्रु वह लोग हैं, जिन्होंने उत्पादन के साधनों पर अधिकार जमा रक्खा है। अब वह पूँजीवाद के स्थान पर साम्यवाद स्थापित करना चाहते हैं। उन्हें विश्वास होगया है कि वह अपने श्रम-द्वारा अपने काम का उचित मूल्य उस समय तक प्राप्त नहीं कर सकते, जब तक उत्पादन के साधनों पर सब का समान अधिकार न होजाय। मार्क्स के शब्दों में कुछ काल के बाद वह स्थिति आजाती है, "जब श्रमजीवी क्रान्ति करने पर उतारू होजाते हैं। इनका दल सदा बढ़ता रहता है, उस में कर्तव्य-शीलता उत्पन्न होजाती है, एकता होजाती है, संगठन होजाता है, और यह सब बातें इनमें पूँजीवाद के अत्याचार के कारण उत्पन्न होती हैं। उत्पादन, जो पहिले पूँजीवाद के कारण बहुत उन्नत होगया था, पूँजी के एकाधिकार के कारण उस पर रोक-थाम होजाती है। पूँजी की केन्द्रियता और श्रम-शक्ति का

वर्गीकरण एक ऐसी अवस्था को पहुँच जाते हैं। जब पूँजीवाद के जटिल बंधन में वह नहीं रह सकते। इससे व्यक्तिगत पूँजी-वाद का अन्त आ जाता है। दूसरों को शिकार बनानेवाले स्वयं शिकार बन जाते हैं।"

३

इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि मार्क्स की अर्थनीति के साधारण नियमों ने अपनी ओर लोगों का इतना अधिक ध्यान आकर्षित किया। मज़दूरों को तो उसके विचारों से अवश्य ही सहानुभूति होगी। कुल संसार दो मुख्य श्रेणियों में बँटा हुआ है। एक तो वह, जिन्हें अपने निर्वाह के लिए मज़दूरी करनी पड़ती है, और दूसरा वह, जिन्हें ऐसा नहीं करना पड़ता। जो लोग मज़दूरी करते हैं, वह ग़रीब हैं, और जो नहीं करते, वह अमीर हैं। अब यदि मार्क्स का अतिरिक्त-मूल्य का सिद्धान्त ठीक है, तो, जो मज़दूरी करके निर्वाह नहीं करते, उनके पास धन इस कारण से है, कि मज़दूरी करनेवाले निर्धन हैं। मज़दूर यह अनुभव करता है, कि वह निर्धन है। वह यह भी अनुभव करता है, कि सामूहिक रूप में उसके उत्पादन का मूल्य, उसे जो मज़दूरी मिलती है, उससे अधिक है, और इस प्रकार अपने उत्पादन के मूल्य का जो भाग उसे नहीं मिलता, वह बहुत ही अल्पसंख्यक धनवान आदमियों की जेब में चला जाता है; जो बहुधा आलसी जीवन व्यतीत करते हैं। मार्क्स के सिद्धान्त उसे अपनी हीन दशा की एक उचित व्याख्या प्रतीत होती है। वह इनमें

विश्वास करने लगता है। इस विश्वास का कारण यह नहीं है—कि यह सिद्धान्त अर्थशास्त्रों के नियमों की भित्ति पर बने हुए हैं, बल्कि इस कारण, कि उसमें जिस दशा का वर्णन् है, वास्तव में उसकी दशा वैसी ही है। मार्क्स के बतलाये हुए मज़दूरी के नियम भी ऐसे हैं, जो मज़दूरों को बहुत पसन्द आवेंगे, और जब भी व्यापार में मन्दा होगा, तो उनको स्वीकार करनेवालों की गिनती बढ़ेगी। जिस समय भी बाज़ार में माल की माँग कम होगी, या जिस समय 'ट्रेड-यूनियन्स' की शक्ति में न्यूनता होगी, उस समय ऐसी स्थिति उपस्थित हो जायगी, जैसी स्थिति मार्क्स की सम्मति में स्थाई है; क्योंकि ऐसे चतुर व्यापारी बहुत कम हैं, जो यह जानते हों, कि मन्दी को दूर करने के उपाय मज़दूरी घटाने के अतिरिक्त और भी हैं। इसलिए मज़दूर "मार्क्स के अतिरिक्त-मूल्य के विधान को स्वीकार करके उस वातावरण की वास्तविकता को भी स्वीकार कर लेगा, जो उसने उसके आधार पर निर्माण किया है।"

एक अनुकूल जर्मन आलोचक ने कहा है कि "मार्क्स के अतिरिक्त-मूल्य का सिद्धान्त अनजान आदमियों को फुसलाने के लिए उपयुक्त अवश्य है, परन्तु अर्थनैतिक दृष्टि से उसे महत्व नहीं दिया जा सकता। इतने पर भी उसकी त्रुटियों के कारण हमें जितना सत्य उसकी युक्तियों में है, उसे स्वीकार करने से इन्कार नहीं करना चाहिये। उसका यह दावा कि पूँजीवादी राज्य-व्यवस्था में शक्ति अल्प संख्या के अधिकार में चली जाती

है, निराधार सिद्ध नहीं किया जा सका। यह ठीक है कि 'ज्वाइण्ट-स्टॉक' व्यापार के कारण कुछ अधिक संख्या को लाभ में भाग मिलता है, पर मुख्य शक्ति के प्रश्न पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। कुछ व्यापार ऐसे भी हैं, जिनके विषय में प्रगति यह है, कि उन्हें छोटे रूप में ही करना उचित है; जैसे फ़ोटोग्राफ़ी या मोटरकारों की मरम्मत। पर साथ-ही-साथ ऐसे काम, जिनमें अधिक पूँजी की आवश्यकता होती है, उनके 'मोनोपुलिस्ट-कॉम्बीनेशन' में उत्तरोत्तर वृद्धि हुई है।

हाँ, कृषि अभी तक व्यक्ति-प्रधान ही रहा है। तुलनात्मक दृष्टि से देखने पर यह स्पष्ट विदित हो जायगा कि व्यापार में मिलकर काम करने का नियम उन्नति कर रहा है, और इसकी मज़दूरों पर प्रतिक्रिया का प्रभाव वैसा ही पड़ रहा है, जैसी मार्क्स की कल्पना थी। मज़दूरों में सङ्गठन बढ़ रहा है, और वह उस शक्ति में, जो अब तक पूँजीपति की विशेष सम्पत्ति थी, भाग लेने की चेष्टा कर रहे हैं। रूस की भाँति पूँजीपति दूसरे देशों में शिकार नहीं हुये हैं, पर हर जगह मज़दूरों की माँग यही है कि व्यापार का वर्गीकरण कर दिया जाय। दशा यह है कि पूँजीवाद एक ओर 'मोनोपुली' का विकास तो कर रहा है, पर दूसरी ओर मज़दूरों को सन्तुष्ट नहीं रख पाता है। इसके कारण व्यापार के क्षेत्र में रोज़ कलह रहती है, और धीरे-धीरे यह विश्वास प्रबल होता जा रहा है कि शान्ति का मार्ग केवल साम्य-वादही है। यह सब भली प्रकार जानते हैं कि आजकल मज़दूर

लोग पूँजीवादियों के अधिकारों का विरोध कर रहे हैं। यह कहना कि मज़दूरों और पूँजीपतियों के हितों में समानता है, कोरी मूर्खता है।

'मिल' के कथनानुसार मज़दूर लोग अब यह बात नहीं सुनना चाहते, कि जिस बात में पूँजीपतियों का हित है, उसी में उनका हित है। कहाँ तो मज़दूर अब यह अनुभव कर रहे हैं कि उन्हें पूँजीपतियों से सतर्क हो जाना चाहिये, और कहाँ यह बात! भला वह इससे क्यों न बिगड़ें? यह कैसे सम्भव हो सकता है कि एक चीज़ के बेचनेवाले का और ख़रीदनेवाले का हित एक ही बात में हो? इस बात में तो दोनों सहमत हैं कि बेचने के लिए माल होना चाहिये, और एक विचार से यह कहना भी अनुचित नहीं होगा कि पूँजीपति और मज़दूर दोनों यह चाहते हैं कि व्यापार में लाभ हो, और दोनों को अधिक लाभ हो। पर यह कहना कि उस लाभ का कितना भाग किसे मिलना चाहिये—इसमें भी दोनों के हित समान हैं, भूल है। इस लाभ के विभाजन में जहाँ अन्याय हुआ कि श्रेणियों की शत्रुता, जिस पर मार्क्स ने इतना ज़ोर दिया है, बहुत-कुछ सत्य प्रतीत होने लगती है। लाभ का न्याय-युक्त विभाजन न होने के कारण न्याय के लिए झगड़ा होना अनिवार्य है, झगड़े में एक पक्ष तो है, श्रम-शक्ति को बेचनेवाला और दूसरा उसे ख़रीदनेवाला। मार्क्स ने अपने अतिरिक्त-मूल्य के विधान के आधार पर जो परिणाम निकाले हैं, वह बहुत अंशों में ठीक हैं। यह दूसरी बात

है कि उसकी श्रम-शक्ति के मूल्य का विधान त्रुटिपूर्ण है।

मार्क्स ने क्या परिणाम निकाले हैं? पहिली बात तो यह है कि जनता का उत्पादन के साधनों पर बिल्कुल अधिकार न रहने से माल चाहे जितना अधिक बने, जनता निर्धन ही रहेगी। उसकी निर्धनता तब और भी कटु अनुभव होगी, जब उसे पता लगेगा कि उसकी दशा में और भी अधिक पतन होना सम्भव है, और पूँजीपति आलस्य का जीवन व्यतीत करते हैं। श्रम-शक्ति बेचकर निर्वाह करना, मार्क्स के कथनानुसार, एक प्रकार की गुलामी है। लाभ के विभाजन में तो असमानता है ही। दूसरी बात यह है कि व्यक्तिगत स्वाधीनता भी समान नहीं है। निर्धनता के कारण मज़दूर अपने बच्चों को ठीक शिक्षा नहीं दे पाते, न्यायालय के द्वारा लाभ नहीं उठा सकते, और राजनैतिक-शक्ति से वंचित रहते हैं। उनका मानसिक वातावरण कैसा हो, यह निश्चय करने का अधिकार ऐसे लोगों को है, जिनके हित और आवश्यकताएँ इन से भिन्न हैं। तीसरी बात यह है कि पूँजीवाद अपनी सफलता को स्थायी नहीं रख सकता; उसमें कमी और अधिकता होती रहेगी। इसलिए उसे मिलकर काम करने की आवश्यकता है, और कभी-कभी विपत्ति का सामना भी करना पड़ता है। कच्चे माल को इस प्रकार उपयोग करने से, जिसमें छीज बहुत हो, पूँजीवाद समाज का अहित करता है। उन मनुष्यों के प्रति, जिनकी श्रम-शक्ति पर वह निर्भर है, वह बिलकुल उदासीन रहता है। जिन वस्तुओं का वह उत्पादन करता है, उसमें वह सस्ती

चीज़ों को काम में लाकर संसार को धोखा देता है, और अपने यहाँ काम करनेवालों के नैतिक पतन का कारण होता है। जो मनुष्य उसके अधिकार में होते हैं, उनका व्यक्तित्व उसके कठिन शासन के कारण नष्ट हो जाता है। राजनैतिक सत्ता की दृष्टि से यह बातें प्रजातन्त्रवाद के अनुकूल नहीं हैं। इसका फल यह होता है कि मज़दूरों के मन में क्रान्ति के भाव उत्पन्न हो जाते हैं। इस नीति के कारण गृह-कलह उत्पन्न हो जाता है, और इस प्रकार जो सफलता और शान्ति इसका उद्देश्य है, उसका मूलो-च्छेद हो जाता है। और आख़िरी बात यह है कि विदेशी बाज़ारों पर और विदेशों के कच्चे माल पर अधिकार करने के लिए इसे युद्ध करना पड़ता है, और अपने देश में अपनी रक्षा करने के लिए दूसरे देशों के माल पर कर लगाना पड़ता है।

इस प्रकार की और भी बहुत-सी बातें कही जा सकती हैं इन बातों में अतिशयोक्ति अवश्य है। फिर भी यदि इनकी वास्तविक दशा को दृष्टि में रखकर विचार किया जाय तो मार्क्स की की हुई निन्दा उचित प्रतीत होगी। अब इसका क्या कारण है, कि अर्थवेत्ताओं ने उसके विचारों को अस्वीकार कर दिया है? केवल यही कि उसके मूल्य के विधान में त्रुटियाँ देखकर शायद उन्होंने यह समझ लिया कि इसी प्रकार की त्रुटियाँ उन परि-णामों में भी होंगी, जो उसने इसके आधार पर निकाले हैं। इसी भाँति उसके समर्थकों ने यह देखकर कि उसने पूँजीवादियों का जो चित्र खींचा है, वह उसके अनुभव के अनुकूल है, यह

परिणाम निकाल लिया, कि उसकी सब बातें ठीक हैं। पर एक महान् व्यक्ति की ग़लतियाँ भी कुछ-न-कुछ सिखाती हैं, इसलिए यदि इस बात का ठीक पता लग जाय, कि मार्क्स के ऐसे विचार क्यों बने, तो शायद यह रहस्य खुल जाय, कि उसके विचारों का इतना विस्तृत प्रभाव कैसे पड़ा।

मनुष्य जो माल बनाता है, उसका उसे उचित मूल्य मिल जाय, और इसका न्याय-युक्त विभाजन हो जाय—ऐसी व्यवस्था के लिये किस मार्ग का अवलम्बन किया जा सकता है, इस बात की मार्क्स को खोज थी। उसने अपने निबन्ध में अर्थवाद का जो विवेचन किया है, वह प्राचीन अर्थवेत्ताओं से मिलता-जुलता हुआ है। इन लोगों के मत का आधार 'लॉक' का मूल्य विधान है। "मनुष्य प्रकृति से युद्ध करके जो-कुछ बनाता है, वह उसकी सम्पत्ति है।" इस प्रकार लॉक ने व्यक्तिगत सम्पत्ति का समर्थन किया है। उसने एक ऐसे समाज की कल्पना की थी, जिसमें मनुष्य को उन वस्तुओं पर अधिकार है, जो उसने अपने परिश्रम से प्रकृति से प्राप्त कर ली हैं। इसलिए, लॉक के मत में, सम्पत्ति पर व्यक्तिगत अधिकार न्याय-संगत है। लॉक का कल्पित समाज वास्तविक समाज से भिन्न है, और उसका आदर्श-मूल्य का सिद्धान्त वास्तविक समाज पर लागू नहीं हो सकता। मार्क्स ने केवल इतनी बात लॉक की ग्रहण की, कि मनुष्य प्रकृति के साथ युद्ध करके अपनी योग्यतानुसार लाभ उठाता है, और इस सिद्धान्त को मार्क्स ने वर्तमान समाज पर लागू किया है। साथ-ही-साथ

वह इसमें आर्थिक सम्बन्ध का भी समावेश करता है, जो लॉक ने नहीं किया था। इस कारण जो मूल्य का विधान लॉक के लिए उपयुक्त है, उससे मार्क्स का काम नहीं चल सकता।

प्राचीन अर्थवेत्ताओं ने इस सिद्धान्त के द्वारा कि "मूल्य शान्ति का फल है" जिस समाज की कल्पना की है, उसमें प्रतियोगिता उचित मात्रा में है, और एकाधिकार का अभाव है। उनके विचार में श्रम-शक्ति बेचनेवालों के और ख़रीदनेवालों के अधिकार समान हैं—कोई एक-दूसरे के साथ अन्याय नहीं कर सकता, इसलिए दोनों पक्षवालों को जो-कुछ प्राप्त होता है, वह उनका न्याययुक्त भाग है। पूँजीपति को जो-कुछ लाभ होता है, वह उचित है। इन सिद्धान्तों को उन्होंने वर्तमान समाज पर लागू कर दिया, और क़ानूनी बन्धनों के हट जाने के कारण उनकी सम्पत्ति में वातावरण और भी अनुकूल होगया। इस सिद्धान्त का यह रूप नफ़ा-विभाजन के औचित्य का समर्थन करता है।

मार्क्स ने प्राचीन अर्थवेत्ताओं के मूल्य सिद्धान्तों को स्वीकार कर लिया, पर उससे जो परिणाम निकाले, वह उनके विरुद्ध हैं। उसने यह दिखलाया है कि श्रम-शान्ति के मूल्य का असली कारण हमेशा साम्यवाद का समर्थक है। इस बात को उसने इस प्रकार सिद्ध किया है कि यद्यपि अर्थवाद का दावा है, कि उसके द्वारा जो भाग जिसे मिलना न्याय-संगत है, वह उसे मिल जाता है, पर अनुभव से यह सिद्ध हुआ है कि एक अल्प संख्या को तो बहुत बड़ा भाग मिलता है, और बाक़ी सब को बहुत कम।

इसलिये यह अन्याय का पोषण करता है; विशेषतया जब से फ्रांस की राज्यक्रान्ति ने मनुष्यों के हृदय में समानता का विश्वास स्थापित कर दिया है। अर्थवाद और समानता में विरोध है, और समानता की विजय अनिवार्य है। इससे यह सिद्ध होता है, कि साम्यवाद की स्थापना अनिवार्य है; अर्थवाद तो केवल इस परिवर्तन की एक बीच की स्थिति है। जब उत्पादन के साधनों पर सब का समान अधिकार हो जायगा, तब सब को अपना-अपना उचित हिस्सा मिलने लगेगा।

इससे विदित होता है कि मार्क्स की सम्मति में मूल्य की एक धर्म-युक्त परीक्षा भी है। किसी वस्तु में केवल उपयोगिता-मूल्य और परिवर्तन-मूल्य ही नहीं है, उसमें एक व्यापक मूल्य भी है, और जब समाज की व्यवस्था ठीक हो जायगी, तब परिवर्तन इसके आधार पर होगा। इस व्यापक मूल्य में और वर्तमान समाज के परिवर्तन-सम्बन्धी मूल्य में जितना अन्तर है, वह श्रमजीवियों का भाग है, और इससे उन्हें वंचित रहना पड़ता है। इस व्यापक मूल्य के प्रभाव से माल उतना ही बनेगा, जितने की माँग होगी। इस प्रकार का समाज न्याय-संगत होगा। जिस समाज में समानता नहीं है, वह कभी न्याय-संगत नहीं हो सकता है; क्योंकि उत्पत्ति की मात्रा और माँग में जो अन्तर है, वह समाज की कुव्यवस्था के कारण ठीक नहीं हो सकता।

मार्क्स ने 'मूल्य' के विधान को इस आधार पर क़ायम किया है, कि सब का जन्म-सिद्ध अधिकार समान है। यह बात

तब ही सम्भव हो सकती है, जब कुल सम्पत्ति पर समाज का अधिकार हो। व्यक्तिवादियों का सिद्धान्त और जिन युक्तियों से वह इस सिद्धान्त का समर्थन करते हैं, मार्क्स की विचार-धारा के प्रतिकूल हैं। इन लोगों का विश्वास यह है, कि मनुष्य स्वाधीन व्यक्तिगत रूप से श्रम करके जो-कुछ भी प्राप्त करता है, वह उसका व्यक्तिगत रूप से अपना है। मार्क्स के विचार में व्यक्ति स्वाधीनता के साथ ऐसा नहीं करता, इसलिये उसने व्यक्तिगत श्रम से 'मूल्य'-उत्पादन के प्रयत्न के परिणाम को बजाय व्यक्तियों पर लागू करने के, समाज पर लागू किया है। व्यक्तिवाद को वह इस माने में स्वीकार करने को तैयार है कि यह एक नैतिक कसौटी है, पर अर्थवाद के हानिकारक प्रभाव ने इसे विकृत कर दिया है। इसलिये अपने मूल्य के सिद्धान्त की व्याख्या में वह आदर्श और वास्तविकता के अन्तर को प्रायः भूल-सा गया है। जिस विधान का उसने खण्डन किया है, उसकी त्रुटियों को उसने बड़ी सफलता से दर्शाया है, पर अर्थ-वाद की व्याख्या मे वह बिना अनुभव किये हुए अपने मूल सिद्धान्तों से थोड़ा अलग हो गया है।

उसकी इस अर्थवाद की व्याख्या में लोगों को अर्थवाद के कटु अनुभवों का प्रतिबिम्ब मिलता है। यदि समाज में सब के अधिकार समान हों, और स्वयं उत्पादन करनेवाला ही वस्तुओं का परिवर्तन कर ले, तब जो कुछ भी उसे प्राप्त होगा, उसके श्रम का उचित पारितोषिक होगा। यह अवश्य है, कि

उसके द्वारा उत्पादित वस्तु की बाज़ार में माँग होनी चाहिए। पर यदि समाज में अधिकारों में समानता न हो, जिसमें श्रम का विभाजन इस प्रकार किया गया हो, कि उत्पादन और परिवर्तन का सामञ्जस्य बिगड़ जाय, इस हालत में यह बात असम्भव है। परिवर्तन के कारण जो लाभ होता है, वह उत्पादन करनेवाले का पारितोषिक नहीं है। प्राचीन अर्थवेत्ताओं ने अपने मूल्य के विधान को इसी भ्रम के आधार पर निर्माण किया है। एक बात और है। वर्तमान स्थिति में मज़दूर के श्रम का क्या वास्तविक मूल्य है, यह किसी प्रकार नहीं जाना जा सकता। वह तो केवल अपनी श्रम-शक्ति से बेच सकता है, और फिर बहुत-से मज़दूरों की श्रम-शक्ति के सम्मिश्रण से उत्पादन होता है, इसलिये यह पता लगाना असम्भव है, कि प्रति मज़दूर ने अलग-अलग जो कार्य किया है, वह उत्पादन के लिये कुल कार्य का कौन-सा भाग है। प्रचलित विधानवाले इन सब कठिनाइयों की ओर ध्यान नहीं देते, उनके विचार में जितनी मज़दूरी एक मज़दूर को मिल जाती है, उसने उत्पादन-कार्य के उतने ही भाग को किया है; यानी मज़दूर ही ने उत्पादन किया, और परिवर्तन किया, और ऐसा करने पर अपना उचित भाग उसे मिल गया। मज़दूर को यह अनुभव होगया है, कि जितना कार्य वह करता है, उसका यथेष्ट पारिश्रमिक उसे नहीं मिलता और अतिरिक्त-मूल्य ही लाभ है, मार्क्स से सहमत हो जाता है, कि उसके साथ अन्याय हो रहा है।

इस सरल रूप में मार्क्स के विचार बिल्कुल सत्य मालूम

होते हैं। कहीं-कहीं उसने ऐसा भी कह दिया है, कि विनिमय का मूल्य पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता; यद्यपि वह स्वीकार कर चुका है, कि इसका प्रभाव अवश्य पड़ता है। मार्क्स ने यदि पूँजीवादियों के प्रति शत्रुता का प्रदर्शन किया है, तो उधर माननीय अर्थवेत्ताओं ने मज़दूरों के प्रति अन्याय किया है। मार्क्स ने यह सिद्ध कर दिया है कि 'मूल्य' का उत्पादन समाज में सङ्गठन के द्वारा होता है, और इसलिये यह पता लगाना असम्भव है कि व्यक्तिगत रूप से प्रति-मज़दूर ने इसमें कितना भाग लिया है। फिर भला पूँजीवाद मज़दूरों का जो परिश्रमिक निश्चय करता है, वह किस भाँति न्याय-सङ्गत हो सकता है? इसका मुख्य कारण यही है, कि अधिकारों में समानता नहीं है। मार्क्स के विचारों में सब से बड़ा आकर्षण यही है, कि वह इस समानता को स्थापित करना चाहता है।

मार्क्स की युक्तियों का सारांश यह है, कि जब उत्पादन के साधनों पर थोड़े-से व्यक्तियों का अधिकार हो, और एक बहुत ही अधिक संख्या को केवल श्रम-शक्ति बेचकर गुज़ारा करना पड़ता हो, ऐसी दशा में यह सम्भव नहीं है कि मज़दूर अपनी मज़दूरी का उतना मूल्य प्राप्त कर सकें, जितना कि समान अधिकारवालों को प्राप्त हो सकता है। मज़दूरों को समान-अधिकार न होने से दबना पड़ता है। उन लोगों की बात को, जो ऐसा कहते हैं कि मज़दूरों को पूरा हक़ है, कि वह अपनी उचित मज़दूरी लें, और मज़दूर जो मज़दूरी लेकर काम करते हैं, यह उनकी उचित

मज़दूरी है, मार्क्स ने युक्ति से असत्य सिद्ध कर दिया है। जिस शक्ति के द्वारा मज़दूर इस मामले में अपने साथ न्याय करा सकते हैं, वह उन्हें प्राप्त नहीं है, और उसके अभाव से इनके साथ जो अन्याय होता है, वह बढ़ता जा रहा है। पूँजीवाद ने स्वाधीनता अपहरण करने के लिये राजसत्ता ऐसे ढँग की बना दी। यह सत्ता समानता के आदर्श पर स्थित नहीं है, इसलिए प्रजातन्त्र होना असम्भव है। मार्क्स के विचारों पर फ्रांस की राज्य-क्रान्ति की गहरी छाप लग गई थी, इसलिए वह तो स्वतन्त्रता का उपासक बन गया था। उसकी इस बात का क्या उत्तर है, कि जब समानता की न्यायपरता को राजनैतिक क्षेत्र में स्वीकार कर लिया गया है, तो फिर उसे आर्थिक क्षेत्र में भी क्यों स्थान नहीं दिया जाता? मार्क्स की इस बात को मज़दूर लोग अनुभव कर रहे थे। मार्क्स का लोगों के हृदय पर इतना प्रभाव असमानता के विपक्ष में आन्दोलन से ही पड़ा है। यदि कोई उसके इस प्रभाव को हटाना चाहे, तो इसका उपाय यही है, कि इस असमानता को मिटाने की चेष्टा की जाय।

४

हमारी इस व्याख्या का यह तात्पर्य नहीं है, कि हम मार्क्स के मूल्य के विधान को अर्थनैतिक दृष्टि से युक्ति-सङ्गत समझते हैं। सच तो यह है, कि अपने विधान का मार्क्स ने ऐसा रूप बना दिया, कि वह असम्भवप्राय हो गया। क्योंकि यदि हम मूल्य को समाज-द्वारा उत्पादित समझ लें, यानी 'मूल्य' व्यक्ति-द्वारा

नहीं, व्यक्तियों के सङ्गठन-द्वारा उत्पादित वस्तु है, तो फिर यह पता लगाना असम्भव है, कि किस व्यक्ति-विशेष ने उसके किस भाग का उत्पादन किया है। सहयोग-द्वारा उत्पादन, और व्यक्तियों-द्वारा अलग-अलग उत्पादन के सम्मिश्रण में बड़ा अन्तर पड़ जाता है। इसलिए श्रम से विभाजन के कारण ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाती है, कि जिसमें 'मूल्य' श्रम-शक्ति का फल है, इस सिद्धान्त को स्थान नहीं रह जाता, और इसलिये वह विधान लागू नहीं हो सकता। मार्क्स के मत ने वास्तव में जो काम किया है, वह यह कि व्यक्तिवाद को अन्याययुक्त सिद्ध कर दिया है।

व्यक्तिवाद का खण्डन तो ख़ैर पूरी तौर पर होगया, पर उसके स्थान पर क्या होना चाहिये, इस बात को मार्क्स ने स्पष्ट नहीं बतलाया। केवल यह कहा है कि अर्थनैतिक विषयों में न्याय तभी हो सकता है, जब कि उत्पादन के साधनों पर सब का समान अधिकार हो जाय, और मज़दूरी योग्यता और आवश्कता के अनुसार दी जावे। मार्क्स ने अपनी बुद्धि से यह समझ लिया था कि ख़याली पुलाव पकाने से बजाय लाभ के हानि की सम्भावना है, और अनिवार्य परिवर्तन के मर्म को भली भाँति समझने के कारण वह यह भी जानता था कि जिन बातों को इस समय साधारण रूप में देख रहा है, उनकी बारीकियों में इतनी नवीनता होगी कि जिसकी इस समय कल्पना भी नहीं की जा सकती। हमें मार्क्स की यह बात भ्रमपूर्ण प्रतीत होती है कि

केवल पूँजीवाद के नष्ट होजाने से समाज के संगठन में बड़ी सरलता आयगी; क्योंकि इस समय मानव-जीवन का प्रश्न इतना जटिल है कि हम चाहें जिस व्यवस्था से काम लें, उसमें उलझन अवश्य रहेगी। जब कि उत्पादन में व्यक्तिगत श्रम का कितना भाग है, यह किसी प्रकार जाना नहीं जा सकता, तब व्यक्तिगत श्रम का पारिश्रमिक किस भाँति निश्चय किया जाय, यह एक कठिन प्रश्न हैं। कुछ लोगों की यह सम्मति है कि ऐसी दशा में सब को बराबर पारिश्रमिक मिलना चाहिये। पर एक बात संशय-रहित है, और वह यह है कि मार्क्स के विचारों को अपनाकर साम्यवाद में एक बड़ी शक्ति आ गई है; क्योंकि उसका प्रभाव मनुष्यों की कुछ विशेष प्रवृत्तियों पर निर्मित है।

* * *

चौथा अध्याय

संसार में कई भिन्न-भिन्न राष्ट्र हैं, जिनकी अपना-अपनी पद्धति भी भिन्न है। सब प्रकार की राज्य-सत्ताओं का यही नियम है, कि बहुसंख्यक मनुष्य एक बहुत ही अल्प संख्या की आज्ञा का पालन करें। राष्ट्र की सम्पत्ति का प्रबन्ध भी यही थोड़े-से आदमी करते हैं। यही क़ानून बनाते हैं, और सब को उन क़ानूनों पर चलने के लिए बाध्य करते हैं। इन्हीं की इच्छा के अनुसार जल और स्थल-सेना, पुलिस, दूसरे राष्ट्रों से सम्बन्ध-आदि प्रश्नों का निर्णय होता है। राज्य-सत्ता के कई रूप हैं। इङ्गलैण्ड में इस सत्ता का रूप व्यवस्थापक एकतन्त्रवाद है, और शासनकर्त्ताओं का निर्वाचन प्रजा के निर्वाचित प्रतिनिधि करते हैं। अमेरिका में इसे प्रजा-तन्त्र का रूप दिया गया है, जिसमें अधिकार-शक्ति

जन-मत-द्वारा स्वाधीनतापूर्वक निर्वाचित की हुई कार्यकारिणी समिति और व्यवस्थापिका सभा के बीच बँटी हुई है। नागरिक प्रबन्ध की भी ऐसी ही व्यवस्था है। स्पेन और टली में वर्तमान सत्ता का रूप 'डिक्टेटरशिप' है। राजनैतिक संस्थाओं का कोई भी रूप क्यों न हो, यह बात मुख्य रूप से सब में है, कि बहुत अधिक संख्या थोड़े से व्यक्ति के आधिपत्य में रहती है, और इन थोड़े व्यक्तियों के हाथ में इतनी शक्ति होती है, कि वह सब को अपनी आज्ञा पर चलने के लिए बाध्य कर सकें।

राज्य-सत्ता की क्या कोई विशेष आवश्यकता है? 'क्लैसीकल' सिद्धान्तवालों के मत के अनुसार समाज के हित के लिए इसकी आवश्यकता है। यह एक ऐसा धरातल उत्पन्न कर देती है, जिस पर सब मनुष्य अपने भेद-भाव के बावजूद भी, नागरिक की हैसियत से मिल सकते हैं, और संस्थाएँ केवल किसी श्रेणी या सम्प्रदाय-विशेष को ही अपना सकती हैं। 'ट्रेड-यूनियन्स', धार्मिक संस्थायें, मालिकों के सङ्घ-आदि केवल थोड़े-से लोगों को आकर्षित करते हैं, और उन्हें भी पूर्णतया अपना नहीं सकते। राज्य-शक्ति और इन सब संस्थाओं में यह अन्तर है, कि राज्य-शक्ति में सब को अनिवार्य रूप से भाग लेना पड़ता है, और इसकी शासन-नीति का कर्तव्य है, कि समाज के भिन्न-भिन्न अङ्गों में न्याय-युक्त सम्बन्ध रक्खे। यह सदा इस बात का यत्न करती है, कि समाज के सब अंगों का परस्पर सम्बन्ध ऐसा हो, जिसमें व्यक्तिगत विकास का पूरा-पूरा मौक़ा मिल सके।

राज्य-शक्ति का उद्देश इन आदर्शों की पूर्ति है, जिसमें और सब मानवी संस्थाओं के समान परिवर्तन होता रहता है। जो कल था, सो आज नहीं है, और जो आज है, सो कल नही होगा। ऐसा कहना कि सौ वर्ष पहिले इङ्गलैंड की राज्यसत्ता में भी व्यक्तिगत विकास का पूरा मौक़ा था, बिलकुल असत्य होगा, और यह भी प्रकट है कि वर्तमान समय में भी एक बहुत बड़ी संख्या को बिना अपने किसी दोष के इससे वंचित् रहना पड़ता है। इसका उत्तर यह मिलता है कि अब तक राज्य-शक्ति पूरी उन्नति नहीं कर सकी है, पर उन्नति के मार्ग पर अग्रसर होती जाती है। आज की दशा सौ वर्ष पहले से अच्छी है। इसी प्रकार धीरे-धीरे उन्नति होती जा रही है। राजनैतिक विचार क्रमशः जन-मत की ओर बढ़ रहे हैं, और संस्थायें जनता की इच्छा के अनुकूल बनती जा रही हैं। जहाँ प्रजातन्त्र है, वहाँ तो जनता को पूरा अवसर है कि राज्य-शक्ति को जैसा चाहे, बना ले।

इस सम्मति से बहुत-से ऐसे विद्वान्, जो साम्यवाद के पक्ष में नहीं भी हैं, सहमत नहीं हैं। इस सम्मति का आधार स्वाधीनता और समानता है। बहुत-से विद्वानों का मत है कि न तो यह सम्भव ही है, और न लाभप्रद। उनका यह कहना है कि बहु-संख्यक के हितों को बलि करके थोड़े मनुष्यों को लाभ पहुँचाना ही सामाजिक संगठन का उद्देश्य है, और 'मेस्टर' और 'बोलैण्ड' तो ऐसे लोगों को, जिन्हें अधिकार प्राप्त नहीं हैं, धर्म-द्वारा शान्ति-लाभ करने की अनुमति देते हैं। ऐसे लोगों के म-

में इतना सत्य का अंश तो अवश्य है, कि किसी भी समय का इतिहास यह नहीं बतलाता, कि किसी राज्य-शक्ति की नीति का उद्देश्य जन-साधारण के हितों की रक्षा थी। और यदि बड़ी संख्या को थोड़े-से व्यक्तियों के आधिपत्य में रहना ही है, तो सच-मुच धार्मिक विश्वास में यह शक्ति है कि जनता अपने इस दुर्भाग्य को शान्तिपूर्वक सहन कर ले।

राज्य-शक्ति का आदर्श क्या होता है? इस विषय में मेस्टर के समान अनुदार विचारक और मार्क्स के विचारों में समानता है। दोनों मतों ने इस बात पर ज़ोर दिया है कि सामाजिक सङ्गठन का ही यह फल है कि जनता को गुलामी का दुःख उठाना पड़ता है, और दोनों ही ने ऐसे उपाय बतलाये हैं, जिनसे जनता इस कष्ट से छूट सकती है। अन्तर केवल यह है कि मेस्टर के उपाय से मुक्ति सांसारिक जीवन के बाद प्राप्त होती है, और मार्क्स इसी जीवन में उनका दुःख दूर करने का आश्वासन देता है। वह यह निश्चय दिलाता है कि राज्य-शक्ति ही वह शक्ति है, जिसके कारण यह सब कष्ट हैं; उसके नष्ट होते ही इसका अन्त होजायगा। साम्य-वादियों ने अपनी इस बात को बहुत ही सरल युक्तियों से सिद्ध किया है। पूँजीवादी समाज का उद्देश्य यही है कि पूँजीवादी मज़दूरों के द्वारा लाभ उठावें। पूँजीवादियों के पास सब-कुछ है, और इसलिये वह शक्तिशाली है, मजदूरों के पास कुछ नहीं है, और इसलिए वह निर्बल हैं, और उन्हें दबना पड़ता है। ऐसे अन्याय को क्यों सहन किया जाता है? इसके दो कारण हैं; एक

तो यह कि पूँजीवादी संगठित हैं, और दूसरा यह कि वह मज़दूरों की कार्य-शक्ति को वश में कर सकते हैं ।

पूँजीवादी राज्य-विधान की सहायता से ही अपने-आपको अक्षुण्ण बना लेता है। "सब देशों में" बुख़ारिन ने कहा है—"शासन-शक्ति शक्तिशाली व्यक्तियों द्वारा ही निर्मित है। हर जगह 'मिनिस्टर्स', ऊँचे पदाधिकारी, व्यवस्थापक-सभा के सभासद, या तो पूँजीपति हैं, या ज़मींदार, या कारख़ानेदार या धनकुबेर, या इन लोगों के अच्छी तनख़्वाह के नौकर, जैसे वकील,—बैंकों के मैनेजर, प्रोफ़ेसर, सेना के उच्च अधिकारी, विशप-आदि, जो कि पूँजीवादियों की सेवा, भय से नहीं, बल्कि विश्वास के कारण करते हैं।" इस प्रकार के सङ्गठन के दो उद्देश्य हैं। एक तो यह कि पूँजीपतियों का उत्पादन के साधनों पर अधिकार होजाय । इस के लिए क़ानून, पुलिस और सेना से काम लिया जाता है । दूसरा उद्देश्य दूसरे राष्ट्रों से प्रतियोगिता करना है। इनमें भी शक्तिशाली अवयवों का सङ्गठन होता है, जिसमें उत्पादन से इन-की अपेक्षा अधिक लाभ उठाया जा सके। बुख़ारिन ने फिर कहा है "पूँजीवादी राष्ट्र शक्तिशाली व्यक्तियों का संगठन है, और इसके द्वारा अन्यायपूर्वक लाभ उठाने का निरन्तर प्रयत्न किया जाता है। इसमें केवल पूँजीवादियों के हितों का ही ध्यान रक्खा जाता है। यही वह लक्ष्य है, जिसकी ओर इस दल का ध्यान रहता है। साथ ही राज्य-शक्ति का अस्तित्व यह सिद्ध करता है, कि मज़दूरों और पूँजीवादियों की शत्रुता अमिट है ।" साम्यवाद के

सिद्धान्तों के लिये यह मत परमावश्यक है। साम्यवाद के अनुयायी कभी इस प्रकार समझौता करने को राज़ी न होंगे; जैसा सुधारवादी वर्गवादियों ने करने की चेष्टा की थी, जिससे यह सिद्ध होजाय, कि राष्ट्र इस शत्रुता को मिटा सकता है। साम्यवादियों के लिये शान्ति केवल दो संघर्षों के बीच का समय है। समझौता करने की चेष्टा करने का फल यह होगा, कि श्रमजीवी अपने ग़ुलामी के बन्धनों से मुक्त न हो सकेगा। राष्ट्र तो केवल पूँजीवादियों की सहायक-शक्ति है, और पूँजीवादी ही यह घोर अन्याय कर रहे हैं। ऐसी दशा में श्रमजीवियों और शासकों में समझौता करा देने का मतलब यह है, कि श्रमजीवियों की ग़ुलामी को अनन्त बना दिया जाय। १९२० में जब इँग्लैण्ड के स्वाधीन मज़दूर-दल ने 'तीसरे इण्टर्नेशनल' से पूछा, कि क्या साम्यवाद केवल हथियारों के ज़ोर से स्थापित किया जा सकता है—तो उन्हें यह उत्तर मिला—"कार्यकर्ताओं को केवल इस बात की तैयारी नहीं करनी चाहिये, कि व्यवस्थापक-सभा में सहज में विजय प्राप्त कर लें, बल्कि इसकी तैयारी करनी चाहिये, कि एक भारी गृह-युद्ध के द्वारा विजय प्राप्त करें। यदि मज़दूरों के हाथ में बिना गृह-युद्ध के शासन-शक्ति आ भी जायगी, तो इसका फल यह होगा, कि जैसे ही वह मज़दूरों को पूँजीवाद के पञ्जों से छुटाने का प्रयत्न आरम्भ करेंगे, वैसे ही उन्हें गृह-युद्ध के लिये तैयार होना पड़ेगा।"

इन कारणों से साम्यवादियों का यह दावा है, कि जो

आदर्श आजकल के राष्ट्र प्राप्त करना चाहते हैं, वह उसे कभी प्राप्त नहीं कर सकते। जब तक स्वार्थ अपना आतङ्क समाज पर जमाये रहेगा, और पूँजीपतियों के हाथ में शक्ति रहेगी, तब तक न्याय, समानता, स्वाधीनता का कोई अर्थ नहीं है। यह बातें ऐसी स्थिति में प्राप्त नहीं हो सकतीं, जबकि मुट्ठी-भर आदमियों का जनता पर आधिपत्य रहे—जब तक यह लोग जनता के साथ अन्याय करते रहें। वर्तमान राष्ट्र का मूल सिद्धान्त अपनी शक्ति का प्रयोग उन्हीं बातों को रोकने के लिये करना है, जिनकी प्राप्ति के लिये वह ऊपरी आडम्बर करता है।

साम्यवादी राज्य-शक्ति को दो रूपों में देखते हैं। एक—आर्थिक संगठन के रूप में वह मज़दूरों से श्रम कराकर अतिरिक्त-मूल्य पर अधिकार कर लेती है,—दूसरे, राजनैतिक सत्ता के रूप में वह पूँजीपतियों के हितों की रक्षा करती है, कि कहीं मज़दूर लोग अपनी अवस्था से असन्तुष्ट होकर क्रान्ति न कर दें। राज्य-शक्ति का संगठन इन दो कार्यों के अलावा और कुछ भी नहीं करता। न्याय की संस्था भी, साम्यवादियों के मतानुसार, खींच-तान करके पूँजीपतियों का ही मतलब सिद्ध करती है। जर्मनी की सरकार ने लिवनेट को इस अपराध के लिये कारागार-दण्ड दिया, कि उससे सरकार को हानि पहुँचने की आशंका थी, पर जिसने लिवनेट की हत्या कर डाली थी, उसे बिना दण्ड दिये छोड़ दिया। इतना ही नहीं, सरकार मन पर भी अधिकार जमाने का यत्न करती है। पाठशालाओं में आज्ञा-पालन का

पाठ पढ़ाया जाता है। मज़दूरों के बच्चों को शिक्षा दी जाती है, कि क्रान्ति करना बड़ी क्रूरता है, राजा के प्रति श्रद्धा और भक्ति के भाव होने चाहियें, राष्ट्र के सैनिक वीरता के अवतार हैं। यदि कोई सत्य की खोज करता है, तो उसे बुरा कहा जाता है, और जो किसी भी कारणवश सरकार की सेवा करते हैं, उनकी कीर्ति से देश-भर गूँज उठता है। धार्मिक संस्थाओं का भी यही हाल है। चूँकि सब शक्ति ईश्वर की ओर से दी जाती है, इसलिए क्रान्ति करना वैसा ही है, जैसे ईश्वर की निन्दा करना। वह भी यही उपदेश देती है, कि मनुष्यों को शान्तिपूर्वक अपने कष्टों को सहन करना चाहिये; बजाय यह कहने के, कि स्वाधीनता के लिये प्रयत्न करना चाहिये। और फिर अख़बार सदा वर्तमान सत्ता की न्यायपरता का राग अलापा करते हैं, जिसमें ग़ुलामी की ज़ंजीरें और भी अधिक जकड़ जायँ। पूँजीवादी राज्य-शक्ति सदा इस बात से सावधान रहती है, कि श्रमजीवी ग़ुलाम कहीं क्रान्ति न कर बैठें।"

इसलिये राज्य-शक्ति का लक्ष्य, साम्यवाद की दृष्टि में, सरल है। लेनिन ने कहा है—"यह दशा श्रेणी-शत्रुता के अमिट होने का फल है। कहाँ, कब और कितनी राज्य-शक्तियाँ उठती हैं, यह इस पर निर्भर है, कि किसी समाज-विशेष में श्रेणी-शत्रुता कहाँ तक नहीं मिट सकती। ऐसी दशा में उपाय केवल यही है, कि उस पर वह लोग अधिकार कर लें, जिन्हें अब शक्ति से वञ्चित रहना पड़ता है। साम्यवादी राज्य-शक्ति के आदर्शों की

उत्कृष्टता को स्वीकार करते हैं। उनका दावा यह है, कि जो संस्था इन आदर्शों की प्राप्ति का यत्न कर रही है, वह अपनी त्रुटियों के कारण कभी उन्हें प्राप्त नहीं कर सकती। इस प्रकार इन सिद्धान्तों की प्राप्ति तभी हो सकती है, जब राज्य-शक्ति का अस्तित्व ही मिट जाय।"

सरकार की ओर साम्यवादियों का क्या दृष्टि-कोण है, यह उनके प्रजातन्त्र के सम्बन्ध में जो विचार हैं, उनसे स्पष्टतया प्रकट हो जाता है। प्रचलित सिद्धान्त के समर्थकों के विचार में प्रजातन्त्र में प्रति व्यक्ति को मताधिकार प्राप्त हो जाता है, क़ानून की दृष्टि में वह सब के समान होता है; वह जिस कार्य को करना चाहे, जितनी उन्नति करना चाहे, उसमें कोई बाधा नहीं है। शासन-प्रणाली जन-मत के अनुसार बनती है, इसलिए केवल इस बात की आवश्यकता है कि बहुमत को साम्यवाद के पक्ष में कर लिया जाय। बस, फिर राज्य की शक्ति के द्वारा उसको स्थापित करने में कोई अड़चन नहीं पड़ेगी। यदि ऐसा हो जाय तो साम्यवादियों का शासन स्थापित हो जाय और जो कोई भी उसके विरुद्ध आन्दोलन करे, उसे राज्य की शक्ति के द्वारा रोका जा सकता है। इसलिए साम्यवाद की स्थापना बिना गृह-युद्ध के ही सम्भव है।

साम्यवादियों की सम्मति में प्रजातन्त्र में वास्तविक उपयोगिता सीमित है। उसके द्वारा जनता में जागृति उत्पन्न हो जाती है। चूँकि प्रजातन्त्र का अस्तित्व ही एकतन्त्रवाद और

पूँजीवाद के खण्डन-स्वरूप है, इसलिए पूँजीवाद और श्रमजीवी-दल में उसके द्वारा युद्ध-स्थल निश्चित हो जाता है। उसके द्वारा मज़दूरों को संगठन का अवसर मिलता है, वह अपने 'ट्रेड-यूनियन्स'-आदि दल बनाकर संगठित हो सकते हैं। पर इसका मतलब यह नहीं है कि प्रजातन्त्र को एक मूल सिद्धान्त समझकर अंगीकार किया जाय।

जितनी ही अधिक प्रजातन्त्रवाद की परीक्षा की जायेगी, वह उतना ही अधिक त्रुटिपूर्ण सिद्ध होगा। यह भावना कि हर व्यक्ति के अमुक जन्म-सिद्ध अधिकार हैं, जो सब में समान हैं, बिलकुल निर्मूल है।

'ट्रॉट्सकी' ने मज़दूरों को जगाते हुए कहा है—"तुम्हें उन अधिकारों से लाभ उठाने का मौक़ा ही नहीं दिया जाता। पक्षपातपूर्ण और नक़ली क़ानूनी समानता की ज़ंजीर से तुम पूँजीवाद की गाड़ी के पहिये से बाँध दिये गए हो।" चाहे जितने अधिक इस प्रकार के हक़ दे दिये जाँय, कभी एक साधारण कृषक 'रॉसचाइल्ड' की बराबरी नहीं कर सकता। ज़मींदार, मज़दूर, पूँजीपति साधारण स्थिति का व्यक्ति, मिनिस्टर, जूता साफ़ करनेवाला, इन सब के अधिकार नागरिक की हैसियत से बराबर हैं। ईसाई-मत की रहस्यमयी समानता ने मानो स्वर्ग से नीचे क़दम बढ़ाया तो प्रजातन्त्र की जन्म-सिद्ध और क़ानूनी समानता का रूप धारण कर लिया। पर अभी तक वह क़दम पृथ्वी तक नहीं पहुँचा है, इसलिए उसका प्रभाव समाज की आर्थिक नींव पर नहीं पड़ा।

साम्यवादी आदर्श के विषय में नहीं, बल्कि वास्तविकता के विषय में ज़ोर देते हैं। उत्कृष्ट प्रजातन्त्र में सब व्यक्ति स्वाधीन और समान हैं। शिक्षा देने में, बोलने में, लिखने में, वोट देने में, सभी बातों में, अपनी इच्छानुसार कार्य कर सकते हैं। "एक भी 'स्टेट' ऐसी नहीं मिलेगी।" लेनिन ने लिखा है—"जिसके नियमों और क़ानूनों में इस बात की गुंजाइश न रक्खी गई हो कि शान्ति भंग होने पर मज़दूरों के दमन के लिए सेना भेज दी जाय, फ़ौजी क़ानून जारी कर दिया जाय। इस बात का मतलब यह है कि ग़ुलाम जब ग़ुलामी से छूटने का प्रयास करें तो उन्हें रोक दिया जाय।" बहुमत को अपने हक़ों की रक्षा करने का प्रकट-रूप से अधिकार है, पर वह अपने इस अधिकार का उपयोग नहीं कर सकता। अमरीका का हब्शी दक्षिणीय गोरे के समान है। अमरीकन राज्य-व्यवस्था में जो संशोधन हुए हैं, उनके अनुसार उसे पूरी स्वाधीनता और मताधिकार मिल गया है। फिर भी वह उसका उपयोग नहीं कर सकता। इङ्गलैण्ड में बहुमत की इच्छा १९१४ में स्वराज्य की थी, पर जब उन्होंने अपनी इच्छा को कार्य-रूप में परिणत करना चाहा तो 'अल्सटर' में क्रान्ति होगई। अमरीका के नागरिक को अपने विचार प्रकट करने की क़ानूनन् पूरी स्वाधीनता है, पर जब कभी वर्तमान सत्ता के विरुद्ध उसका उपयोग किया जाता है, तो तुरन्त उसे पुलिस की सहायता से दबा दिया जाता है।

जनता हर जगह शान्ति की इच्छुक रहती है, पर उसे कूट-

नीति के द्वारा यह विश्वास दिलाने का प्रयत्न किया जाता है कि युद्ध राष्ट्र और देश के सम्मान की सेवा के लिए किया जाता है, और असली बात—कि युद्ध पूँजीपतियों के लाभ के लिए किया जाता है—उससे छिपाई जाती है। प्रति व्यक्ति धन, विद्या और सम्मान-लाभ कर सकता है, पर कितने हैं, जो वास्तव में ऐसा करने में कृतकार्य होते हैं?

साम्यवादी वर्तमान न्यायशैली के विषय में भी ऐसे ही परिणाम पर पहुँचे हैं। न्यायालय की दृष्टि में सब समान हैं, पर अपनी समानता को क्रियाशील बनाने के लिए धन की आवश्यकता है, और धन उनके पास है नहीं। यदि ग़रीब कृषक अपने ज़मींदार के विरुद्ध न्याय का इच्छुक हो, यदि किसी ग़रीब नौकर को उसका मालिक बिना वेतन चुकाए हुए निकाल दे, यदि किसी मज़दूर का कोई अंग कारख़ाने में काम करते-करते भंग हो जाय और कारख़ानेदार उसे यह कहकर हरजाना देने से इन्कार करे कि यह उसकी लापरवाही का फल है, तो इसमें किसान, नौकर और मज़दूर को न्यायालय-द्वारा अपना हक़ वसूल करना कठिन है। इसलिए न्यायालय के सम्मुख भी सब समान नहीं हैं, और इससे प्रजातन्त्रवाद का खोखलापन प्रकट हो जाता है। यदि इन ग़रीबों को कुछ मिला भी तो वह सब मुक़दमे के ख़र्च में चला जाता है। कुछ नई क़ानूनी संस्थाओं की रचना, जिनका उद्देश्य वर्तमान अधिकार-शक्ति के विभाजन में कुछ परिवर्तन करना है, सिद्ध करती है कि प्रजातन्त्रवाद का दावा ठीक नहीं है।

हमें यह भी याद रखना चाहिये कि आधुनिक प्रजातन्त्र-संस्थाओं का अधिकाधिक पतन होता चला जा रहा है। "जैसे-जैसे लोगों को राजनैतिक हक़ मिलते जाते हैं, और निर्वाचित कार्य-कर्त्ताओं की संख्या में वृद्धि होती जाती है, असली शक्ति सिमटकर थोड़े-से व्यक्तियों के हाथ में आती जारही है, और वह उनकी 'मोनोपुली' होती जाती है।" ट्रॉट्सकी ने कहा है—"सच-मुच बहुमत की यह दशा है।" हर जगह व्यवस्थापिका सभा की शक्ति और मर्यादा में न्यूनता दिखलाई देती है। या तो जैसी इङ्गलैण्ड की दशा है, शक्ति पूर्णतया कार्यकारिणी के अधिकार में चली जाती है; या जैसी फ्रान्स और अमेरिका की दशा है। व्यवस्थापिका सभा और कार्यकारिणी में न बनने के कारण ठीक 'पॉलिसी' के निश्चित करने में बड़ी कठिनाई होती है। अमेरिका के 'बॉस' और इङ्गलैण्ड के 'कॉकस' मतदाताओं को ऐसा प्रभा-वान्वित करते हैं कि निर्वाचन का फल उनकी इच्छा के अनुसार होता है। अमेरिका के प्रधान का निर्वाचन जनता अपनी इच्छा से नहीं कर पाती; वह तो केवल ऐसे दो उम्मीदवारों में से एक को चुन लेती है, जिन्हें थोड़े-से सङ्गठन-कर्त्ताओं ने खड़ा कर दिया है। आजकल के निर्वाचन एक ऐसी विशाल चीज़ हैं कि जिसमें एक वोट देनेवाले का कोई प्रभाव नहीं है; डिपुटी का भी हाल इससे अच्छा नहीं है। वर्तमान प्रजातन्त्र-राज्य में शक्ति उन थोड़े-से तार खींचनेवालों के हाथ में चली जाती है, जो जानते हैं कि किस प्रकार अपना ध्येय प्राप्त करना चाहिये। साथ

ही हर व्यवस्थापिका-सभा को इतना अधिक काम करना पड़ता है कि वह किसी भी प्रश्न पर यथेष्ट विचार नहीं कर सकती। प्रतिनिधि शासन-पद्धति में जो सचमुच ध्यान देने योग्य चीज़ है, वह उसकी बनावट नहीं, उसकी निदान-क्रिया है।

प्रजातन्त्रवाद में जिस प्रकार के बहुमत की प्रधानता है, उसे भी साम्यवादी दोषपूर्ण समझते हैं। आधुनिक स्टेट में वास्तव में यह होता है कि ऐसा उनका मत है। छोटी टुकड़ियों में और जनता के बड़े भाग में, जो इन बातों से उदासीन रहता है, खींचा-तानी होती है। जनता की वास्तव में क्या इच्छा है, इसका पता नहीं लगता। यदि ठीक-ठीक स्थिति जनता को मालूम हो जाय, तो सम्भव है, वह कुछ अपनी ओर से निश्चय कर सके। पर आन्दोलन तथा असत्य का ऐसा प्रबल प्रवाह रहता है, कि इसके कारण उसे असली स्थिति का पता ही नहीं लग सकता। ट्रॉट्स्की ने जब बॉल्शेविकों पर यह दोषारोपण किया कि वह 'कॉन्सटीटुएण्ट एसेम्बली' का परिषद् करके उसके निश्चय को स्वीकार नहीं करते, उस समय उसे यह ध्यान नहीं रह गया था कि इस संस्था का जन्म जिस समय हुआ था, उस समय नवम्बर-मास की क्रान्ति के पूरे महत्व का पता नहीं लग सकता था, और इसलिए उसके निश्चय में और जनता की इच्छा में भेद था। साम्यवादियों का यह दावा है कि वह लोग हर बात को उसी प्रकार करते हैं, जिस प्रकार स्थिति को ठीक-ठीक समझकर स्वयं श्रमजीवी-समुदाय करेगा। चूँकि प्रजातन्त्रवाद में श्रम-

जीवी-समुदाय की असली इच्छा का पता लगाना असम्भव है, इसलिए साम्यवाद-द्वारा उसकी असली इच्छा को कार्य-रूप में परिणत किया जाता है। रूसो के कथनानुसार साम्यवाद मज़दूरों को स्वतन्त्र होने के लिए विवश करता है।

२

साम्यवादियों के सिद्धान्तों में हिंसात्मक आन्दोलन को इतना आवश्यक क्यों समझा गया है? इतिहास की दृष्टि से उनका यह दावा है, शासन-शक्ति का आधार शक्ति है। किसी समय-विशेष में चाहे जितना अधिक सुख और शान्ति हो, पर उसके जीवन के लिये यह अनिवार्य है, कि वह बल के द्वारा अपने उद्देश्यों की रक्षा करे। यदि मज़दूर लोग जल और स्थल-सेना के हृदय में अपने प्रति सहानुभूति उत्पन्न करना चाहें, तो वह दूसरे ही कारण से, इसका घोर विरोध करती है, और उन्हें कठोर दण्ड देती है। यदि राष्ट्र के पास 'दमन के साधन न रह जायँ, तो वह जीवित नहीं रह सकता। उसका जीवन इसी में है, कि वह विवश करके जनता को अपनी इच्छानुसार चला सके।

इतिहास इसका भी साक्षी है, कि क्रान्ति के लिये भी शक्ति अनिवार्य है। सुधार के समय धार्मिक सिद्धान्तों की विजय सेना की शक्ति की सहायता के कारण ही हुई थी। इन सुधारों के प्रति जितना अधिक प्रचण्ड युद्ध होता था, उतने ही कठिन दमन के द्वारा उनका समर्थन किया जाता था। १७ वीं शताब्दि की

इँग्लैण्ड की दोनों क्रान्तियाँ तलवार के ज़ोर से ही सफल हुईं। "१७८९की 'क्लासिकल' क्रान्ति ने," ट्रॉट्सकी ने कहा है—"दमन के भीषण उपायों को जन्म दिया था।" और इसमें कोई संशय नहीं है, कि यदि 'जैकोबिन्स' की 'डिक्टेटरशिप' इतनी कठोर न होती, तो प्रजातन्त्र का अस्तित्व नष्ट होजाता। जब अमेरिका के दक्षिणी प्रदेश १८६० के चुनाव में हार गये, तो गुलामी की प्रथा जारी रखने के लिये उन्होंने बल का उपयोग किया। इसके कारण युद्ध हुआ, और उस युद्ध में दोनों पक्षों ने विजय प्राप्त करने के लिये उचित और अनुचित साधनों का निस्संकोच भाव से प्रयोग किया। १८७१ में 'कम्यून' की असफलता का कारण यही था, कि सफलता के लिये जितनी शक्ति की आवश्यकता थी, उसका उपयोग उसने नहीं किया। "शत्रु को" ट्रॉट्सकी ने लिखा है—"ऐसा कर देना चाहिये, जिसमें वह हानि न पहुँचा सके। इसका मतलब यह है, कि उसे युद्ध में नष्ट कर देना चाहिये।" इतिहास से पता चलता है, कि पूँजीपति इसके द्वारा शक्तिशाली बने, अपनी स्थिति को मज़बूत किया, और अब अपनी प्रधानता को अक्षुण्ण बनाये हुए हैं। क्रान्ति से उन्हें शक्ति प्राप्त होती है, गृह-युद्ध उसकी स्थिति को मज़बूत करता है, और दमन या 'डिक्टेटरशिप' के द्वारा वह अधिकारों को अपने क़ब्ज़े में किये हुए है।

इन बातों से इसके सिद्धान्त का समर्थन होता है; और इसके सत्य को रूस की क्रान्ति ने सिद्ध कर दिया है। विजय वही

प्राप्त कर सकता है, जिसने विजय करने का दृढ़ निश्चय कर लिया है। इस निश्चय का यह अर्थ नहीं है, कि सभाओं में प्रस्ताव पास कर लिये जायँ, और अपनी वक्तृता से अपने मित्रों को अपनी बात में विश्वास दिला दिया जाय। इस निश्चय का यह अर्थ है, कि अपनी बात अपने शत्रु को मनवा दी जाय। यह शत्रु हर प्रकार से अपनी स्थिति की रक्षा करने का प्रयत्न करेगा। क्रान्ति में और युद्ध में थोड़ा अन्तर है, पर मुख्य समस्या इन दोनों की एक ही है। इसके विधाताओं को सदा आक्रमण करना पड़ेगा। उन्हें शत्रु पर अपना आतंक जमा लेना चाहिये, और अपने उद्देश्य उससे स्वीकार करा लेने चाहिये। यह समझना भूल है, कि चूँकि सत्य हमारे पक्ष में है, और जनता हमारे अनु-कूल है, इसलिए शत्रु बिना युद्ध किये हुए आत्म-समर्पण कर देगा। "इस प्रश्न का उत्तर कि राज्य कौन करेगा?" ट्रॉट्स्की ने लिखा है "......दोनों पक्षों में व्यवस्था की धाराएँ क्या हैं—इससे नहीं मिलेगा; बल्कि हर प्रकार के हिंसात्मक उपायों का उपयोग करने से.........इतिहास में शत्रु की इच्छा को विदीर्ण करने का इसके सिवाय और कोई उपाय नहीं मिलता कि हिंसात्मक साधनों का बाक़ायदा और ज़ोरदार उपयोग किया जाय।"

साम्यवादी को विवश होकर यथार्थवादी होना पड़ता है। जब उद्देश्य को स्वीकार कर लिया है, तो उसकी प्राप्ति के उपायों से मुँह नहीं मोड़ा जा सकता। उसके सामने प्रश्न यह नहीं है, कि सिद्धान्त के आधार पर हिंसात्मक उपायों को स्वीकार करना

चाहिये, या नहीं। यदि वह हत्या करता है, या किसी को कारागार भेजता है, तो यह बात वह क्रूरता के कारण नहीं करता। वह ऐसा इसलिए करता है, कि ऐसा न करने से पहिले तो उसे स्वयं या तो अपने जीवन से हाथ धोने होंगे, या कारागार जाना पड़ेगा; और दूसरे इसलिए कि ऐसा करने से लाखों की संख्या में लोग उसके मत को स्वीकार कर लेंगे। शक्ति पर अधिकार करके यदि फिर उससे वञ्चित होना पड़े, तो शक्ति को प्राप्त करने से ही क्या लाभ है? और इतिहास की शिक्षा है, कि तीव्रता से बल का प्रयोग करके ही इससे बचा जा सकता है। "एक क्रान्तिकारी दल" ट्रॉट्स्की ने लिखा है—"जिसने शस्त्रों के द्वारा विजय-लाभ किया है, कभी शक्ति को अपने हाथ से निकलने नहीं देगा, और उसकी रक्षा के लिये शस्त्रों का उपयोग करेगा। यदि उसके विरुद्ध सेना है, तो वह उसका अपनी सेना से मुक़ाबला करेगा। यदि उसके विरुद्ध एक क्रान्तिकारी दल है, जो हत्या करके और उत्तेजना फैलाकर सफल होना चाहता है, तो वह इन लोगों का बड़ा कठोर दमन करेगा।" इस बात के उत्तर में ज़ार के दमन में और साम्यवादियों के दमन में कोई अन्तर नहीं है। साम्यवादी कहते हैं—"यह लोग एक बहुत ही भिन्न आदर्श के लिए दमन का उपयोग करते हैं।" ज़ार के सिपाही उन मज़दूरों का गला घोंटते थे, जो साम्यवाद के पक्ष में थे। हमारे असाधारण न्याय-परिषद् उन ज़मींदारों, पूँजीवादियों और सेनापतियों को गोली मारने की आज्ञा देते हैं, जो पूँजीवाद को फिर

स्थापित करने का प्रयत्न करते हैं। "यह अन्तर है"—ट्रॉट्सकी ने लिखा है—"और हम साम्यवादियों के लिए यह काफ़ी है।"

जिन लोगों ने ध्यान से रूस की राज्य-क्रान्ति का इतिहास पढ़ा है, वह यह जानते हैं, कि साम्यवादियों ने ज़ुल्म करने में कसर नहीं उठा रक्खी है। हिंसात्मक उपायों के द्वारा ही वह शक्ति पर अधिकार प्राप्त करते हैं, और इसी के द्वारा वह अपने इस अधिकार की रक्षा करते हैं। वह पराजितों को अपने सिद्धान्तों को ग्रहण करने के लिये बाध्य करना चाहते हैं, और इसके लिए सब से सरल उपाय का उपयोग करते हैं। वह अपने उपायों के समर्थन में दो बातें कहते हैं; एक तो यह कि वह बहुत महान् उद्देश्यों के लिए यह सब-कुछ करते हैं, और दूसरी यह कि अनुभव से मालूम हुआ है, कि सफलता का और कोई उपाय नहीं है। ऐसी-ऐसी घटनाओं से, जैसे—'ह्वाइट टेरर', लाइबनेट की हत्या, रोज़ा लक्सेमबर्ग की हत्या, मित्र-राष्ट्रों का 'ब्लॉकेड'-आक्रमण और गृह-युद्ध, उन्होंने अपनी समस्याओं को हल करने के उपायों का पाठ पढ़ा है। इस प्रकार के दोषारोपण की ओर वह ध्यान नहीं देते, जैसे ट्रॉट्सकी ने कहा था, कि हिंसात्मक उपायों का उद्योग गर्हित है—क्योंकि यह मनुष्य-जीवन की उत्कृष्टता के सिद्धान्त के विरुद्ध है। यदि किसी हत्यारे को प्राण-दण्ड दिया जाय, तोभी इसके विरुद्ध है, युद्ध भी इसके विरुद्ध है, और मुख्य बात तो यह है कि जब तक मज़दूर पूँजीवाद के चंगुल में हैं, और उनका जीवन इतना दुःखमय है, तब तक इस

सिद्धान्त की पूर्ति कहाँ सम्भव है? "जहाँ तक हमारा सम्बन्ध है।" ट्रॉट्सकी लिखता है—"हम मनुष्य-जीवन की उत्कृष्टता को इतना महत्त्व नहीं देते हैं। जिस समय हम लड़ रहे थे, उस समय हम क्रान्तिकारी थे, और जब हमने शक्ति पर अधिकार कर लिया है, तब भी हम क्रान्तिकारी हैं। व्यक्ति के हितों की रक्षा करने के लिए यह अनिवार्य है, कि वर्तमान सामाजिक व्यवस्था, जो उनकी शत्रु है, नष्ट करदी जाय, और यह बिना रक्त बहाये सम्भव नहीं है।"

'साध्य ही साधन के औचित्य का प्रमाण है' इससे पूर्णतया साम्यवाद की स्थिति की व्याख्या नहीं होती। यदि साम्यवादी हिंसात्मक उपायों का उपयोग करते हैं, और उद्देश्य की दृष्टि से उनका ऐसा करना उचित है, तो फिर कोई भी दल, जिसका उद्देश्य महान् है, ऐसा कर सकता है। साम्यवादी इस बात से सहमत नहीं हैं। उनकी सम्मति में साम्यवाद की क्रान्तिकारी क्रियाशीलता और उसके हिंसात्मक कार्यों में बड़ा अन्तर है। हंगेरी में 'ह्वाइट टेरर' केवल पूँजीवादियों के इस प्रयास के कारण फैल गया है कि साम्यवाद वहाँ प्रचलित न हो सके। इस प्रयत्न से वहाँ कुछ विलम्ब हो जाना सम्भव है। परन्तु चूँकि इतिहास के अनुसार मज़दूरों का उत्थान और पूँजीपतियों का पतन होरहा है, इसलिए क्रान्तिकारी हिंसा वह शक्ति है, जो समाज के प्राकृतिक परिवर्तन की गति में सहायक है। जिस हिंसा का उपयोग साम्यवाद के विरुद्ध किया जाता है, उससे प्रतिक्रिया को

सहायता मिलती है। 'रेड टेरर', ट्रॉट्सकी ने अलङ्कारपूर्ण भाषा में लिखा है—"वह अस्त्र है, जिसका प्रयोग उस श्रेणी के विरुद्ध किया जारहा है, जिसके विनाश की घड़ी तो आगई है, पर जो अभी और जीवित रहने का प्रयत्न कर रही है। यह जन्तु ('रेड टेरर') कुटिल है। जब इस पर आक्रमण किया जाता है, तो यह अपनी रक्षा करता है। इसे यह नहीं मालूम, कि उसकी ठठरी की अजायबघर में आवश्यकता है।"

इससे ज्ञात होता है, कि साम्यवाद की हिंसात्मक नीति में और इतिहास के परिवर्तन के सिद्धान्त में कितना गहरा सम्बन्ध है। यह हिंसात्मक नीति का आँख मूँदकर समर्थन नहीं करता; यह तो उस हिंसा का केवल इसलिये उपयोग करने को विवश है, कि मदमत्त शासन-शक्ति बिना युद्ध किये आत्म-समर्पण करने को उद्यत नहीं है। 'यदि लड़ाई में विजय निश्चित न हो,' साम्यवादी कहते हैं, 'तो लड़ाई करना वृथा है, और यदि विजय-द्वारा उन सिद्धान्तों का पोषण न किया जाय, जिनके कारण विजय की आवश्यकता थी, तो विजय भी वृथा है। हमारा ज़ुल्म इसलिये उचित है, कि हमारा उत्थान होरहा है, और हमारे बैरी का, यानी शासक-श्रेणी का पतन होरहा है, और इनके विरुद्ध इन्हीं के बनाये हुए इस हथियार का प्रयोग करने की आवश्यकता है।' उनकी हिंसात्मक क्रियाशीलता निरर्थक है; क्योंकि ज़्यादा-से-ज़्यादा उसके कारण कुछ देर लग सकती है; भविष्य उनके पक्ष में नहीं है। साम्यवाद की पूँजीवाद की श्रेष्ठता इतिहास की

युक्तियों पर निर्धारित है। साम्यवादियों को हिंसात्मक उपायों की आवश्यकता केवल शासन-शक्ति का नाश करने के लिये है। बाद में तो समाज में भेद रह ही नहीं जायेंगे, और इसकी आवश्यकता ही नहीं पड़ेगी। शासन-शक्ति की हिंसात्मक प्रवृत्ति चूँकि केवल थोड़े समय तक अपने अन्त में विलम्ब करने के लिये प्रयोग की जाती है, इसलिये उसके नाश के लिये जितनी हिंसात्मक क्रियाशीलता की मात्रा की आवश्यकता है, उसमें बहुत वृद्धि होजाती है।

३

इस प्रकार हिंसात्मक उपायों के द्वारा साम्यवादी शासन-शक्ति पर अधिकार कर लेते हैं, और पूँजीवादियों की 'डिक्टेटर-शिप' के स्थान पर श्रमजीवियों की 'डिक्टेटरशिप' स्थापित करके अपनी स्थिति को मज़बूत कर लेते हैं। अब देखना यह है, कि पूँजीवाद के नाश के बाद साम्यवाद के स्थापित होने तक क्या कार्य-क्रम होगा।

इस प्रश्न पर बड़ा विरोध है। मार्क्स का इस विषय में क्या था, इसके विषय में कई मत हैं। इसका विशेष कारण यही है, कि युद्ध में हिंसा का रूप देखकर बहुत-से कोमल-हृदय व्यक्तियों को इसके प्रति घृणा होगई, और जब रूसियों ने फिर इसका बाक़ायदा उपयोग किया, तो कोमल हृदयवाले मार्क्स के शब्दों के ऐसे अर्थ लगाने का घोर विरोध करने लगे। इसलिये इन लोगों ने उनके दूसरे अलङ्कारिक अर्थ लगाये, और इस बात

पर ज़ोर दिया, कि श्रमजीवी-दल की 'डिक्टेटरशिप' से मार्क्स का यह प्रयोजन नहीं था, कि प्रजातन्त्र के आदर्शों को छोड़ दिया जाय, और न यह कि दमन का ऐसी कठोरता से उपयोग किया जाय, जैसा रूस में हुआ है। इन बातों का उत्तर लेनिन और ट्रॉट्सकी ने दिया है। मार्क्स और ऍंगले के विचारों से यह प्रकट है, कि इस परिवर्तन-काल की ठीक-ठीक कल्पना करना उनके या किसी के लिये भी असम्भव था। युद्ध का विस्तार क्या होगा, उसमें किन साधनों की आवश्यकता होगी—इसके विषय में वह कोई मत निश्चित नहीं कर सके। उन्होंने तो केवल एक मार्ग बतला दिया है। रूस ने उसी का अनुकरण किया। अब तो रूसवालों की तरकीब साम्यवाद का मूल मन्त्र होगया है, और मार्क्स के शब्द पुराने इतिहास की समता रखते हैं।

साम्यवाद का मत इस विवेचन से यह प्रतीत होता है कि शासन-शक्ति समाज में अन्याय का यन्त्र है, और जब श्रेणियों का अस्तित्व मिट जायगा, तो शासन-शक्ति स्वयं ही लोप हो जायगी। ऍंगले ने लिखा है—"जिस समय उत्पादन की प्रणाली बदल जायगी, और उत्पादनकर्ताओं का उस पर समान अधिकार हो जायगा, उस समय समाज शासन-शक्ति की मैशीन को ऐसे स्थान पर भेज देगा, जो उसके लिए उपयुक्त है। वह पुरानी चीज़ों का अजायबघर है, जहाँ यह और चीज़ों के साथ रख दी जायगी।" पर इसका नाश चुटकी बजाते नहीं हो सकता। साम्यवादी अराजकतावादियों की इस बात से सहमत

नहीं हैं कि शासन-शक्ति का इसलिए नाश करना चाहिये कि वह दमन करती है, और हर प्रकार का दमन अनुचित है। शासन-शक्ति क्षण-भर में लोप नहीं हो सकती; वह धीरे-धीरे जर्जर होकर लोप होगी। इसमें समय लगेगा, और यह कोई भी निश्चित रूप से नहीं बतला सकता कि कितना समय लगेगा।

परिवर्तन-काल में उसकी परिवर्तित अवस्था के क्या चिन्ह होंगे, इसका अन्दाज़ा लगाना शायद सम्भव है। श्रमजीवी-दल क्रान्ति के द्वारा शासन-शक्ति पर अधिकार कर लेगा। शासन-शक्ति पर अधिकार कर लेने पर उसका पहला काम यह होगा कि उत्पादन के साधनों में साम्य उत्पन्न कर दे। "पर ऐसा करते ही," इँगले ने लिखा है—"श्रमजीवी-समुदाय के इस रूप का अन्त हो जायगा; क्योंकि श्रेणी-भिन्नता, श्रेणी-शत्रुता और यहाँ तक कि शासन-शक्ति का भी, अन्त हो जायगा ....। जिस शासन-शक्ति में श्रमजीवी-समुदाय को समाज के प्रतिनिधि की हैसियत से कार्य करने का अवसर मिलेगा, वह पहला कार्य उत्पादन के साधनों पर समाज का अधिकार स्थापित करना होगा, और उस शासन-शक्ति का यही कार्य आख़िरी भी होगा। शासन-शक्ति को समाज के परस्पर सम्बन्ध के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में धीरे-धीरे दख़ल देने की आवश्यकता न रह जायगी, और इस प्रकार वह लोप हो जायगी। व्यक्ति के ऊपर जो गवर्नमेण्ट का अधिकार है, उसके स्थान पर, चीज़ों पर और उत्पादन-सञ्चालन पर अधिकार हो जायगा। शासन-शक्ति को नष्ट करने

की आवश्यकता नहीं होगी; वह स्वयं ही धीरे-धीरे लोप हो जायगी।"

रूस की घटना में साम्यवादियों ने अपने विचार से मार्क्स और इँगले के उपदेश के अनुसार कार्य किया है। परिवर्तन-काल में साम्यवादियों को किस प्रकार कार्य करना चाहिये। क्रान्ति के समय एक तो पूँजीवादी शासन-शक्ति होती है—जिसे नष्ट कर दिया जाता है। इसके पश्चात् श्रमजीवी-समुदाय का इस हेतु जन्म होता है कि वह अपने से पहिलेवाली पूँजीवादी शासन-शक्ति का नाम-निशान मिटा दे। यह भी धीरे-धीरे अपना यह कार्य समाप्त करके लोप होजाती है। पूँजीवादी शासन-शक्ति के नाश होने में और श्रमजीवी-समुदाय धीरे-धीरे लोप होने में क्या अन्तर है ? यह बतलाया गया है कि पूँजीवादी शासन-शक्ति की आधारभूत दो संस्थायें हैं;—एक तो सेना और दूसरी नौकरशाही। यही मुख्य साधन है, जिनसे पूँजीवाद अपने उद्देश्य की पूर्ति करता है। इनको बिलकुल मिटा देना आवश्यक है; क्योंकि श्रमजीवियों की क्रान्ति की दृष्टि में इनका अस्तित्व भिन्न उद्देश्य की पूर्ति के लिए था, और इसलिए यह व्यर्थ हो जाती हैं। मार्क्स और इँगले ने अपने 'कम्यूनिस्ट मेनिफ़ेस्टो' की भूमिका में लिखा है—"१८७१ की क्रान्ति से साम्यवादियों ने यह अनुभव किया है कि मज़दूर लोग केवल शासन-व्यवस्था पर अधिकार करके और उसका सञ्चालन अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए करने लगें। "दूसरी फ्रेञ्च राज्य-क्रान्ति का उद्देश्य"

मार्क्स ने क्यूगलमैन को १८७१ में लिखा था—"यह नहीं होगा कि सेना और नौकरशाही को वर्तमान अधिकारियों के हाथ से निकालकर दूसरों के अधिकार में दे दें; जैसा पहिले किया था, पर इन संस्थाओं का मूलोच्छेद करना होगा।"

जब पूँजीवादी शासन-शक्ति इस प्रकार नष्ट होजायगी, फिर क्या होगा? श्रमजीवी शासन-शक्ति में क्या विशेषता होगी? मार्क्स ने इन प्रश्नों का साफ उत्तर नहीं दिया है। 'कम्यूनिस्ट मेनिफ़ेस्टो' में केवल इतना आदेश दिया गया है, कि श्रमजीवी-दल का संघटन ऐसा हो जायगा, जिसमें वह राज्य का प्रबन्ध कर सके। फ्रांस के गृह-युद्ध के अनुभव से मार्क्स ने इस विषय की थोड़ी व्याख्या और करदी है। सेना के स्थान में ऐसे लोगों की सेना का निर्माण कर दिया जाय, जो साम्यवाद के पूर्ण भक्त हो। पुलिस को राजनैतिक क्षेत्र से बिल्कुल अलग कर दिया जाय, और नई शासन-शक्ति के प्रति उसे उत्तरदायी बना दिया जाय। प्रबन्ध के दूसरे विभागों में भी ऐसा ही किया जाय। "व्यवस्थापिका सभा के सभासदों से लेकर छोटे-से-छोटे मज़दूरों का वेतन बराबर है। विशेष रिआयतें टूट गईं, धर्मगुरुओं की शक्ति नष्ट होगई, न्याय-विभाग की दिखावटी स्वाधीनता का अन्त होगया, और अब उन्हें भी निर्वाचन से ही पद मिलने लगा। प्रजातन्त्र-वाद का वास्तविक रूप में पूर्ण विकास होगया है," लेनिन ने लिखा है—"वह पूँजीवादी प्रजातन्त्र के बजाय श्रमजीवी प्रजातन्त्र होगया है।"

इसी भाँति 'पार्लियामेण्टरी' संस्थाओं का भी अन्त हो जाना चाहिये। मार्क्स ने १८७१ में लिखा था—"कम्यून को एक 'पार्लियामेण्टरी' संस्था नहीं होना चाहिये; बल्कि एक क्रियात्मक संघ होना चाहिये, जिसमें वह व्यवस्थापक और क्रयात्मक दोनों कार्य एक-साथ ही कर सके।" लेनिन ने इसके आधार पर कहा था, कि 'सोवियट' एक उत्कृष्ट संस्था है, और क्रान्तकारी उद्देश्यों के लिये बहुत ही उपयुक्त है। वास्तव में 'सोवियट' सिपाहियों, मज़दूरों, और ग़रीब कृषकों की एक 'काउन्सिल' है। इस में सामयिक और प्रान्तीय सिद्धान्तों की सभी मुख्य बातें वर्तमान हैं. और साथ ही एक बड़ी बात यह है कि उत्पादन पर भी श्रमजीवी-समुदाय का पूर्ण अधिकार है। नागरिक 'सोवियटों' के संगठन से प्रान्तीय 'सोवियट बन गए। इन प्रान्तीय 'सोवियटों' के संगठन से केन्द्रीय 'सोवियट'-सभा का निर्माण हुआ, जो श्रमजीवी-सरकार की मुख्य व्यवस्थापक-संस्था है। चूँकि किसी भी सभासद या अधिकारी को श्रमजीवी-दल, स्थानच्युत कर सकता है, इसलिए इसमें लोग अपने कर्तव्य का बड़ी तत्परता से पालन करते हैं। इसका क्रान्तिकारी रूप इसलिए सुरक्षित रहता है, कि मत-अधिकार वास्तविक उत्पादन-कर्ताओं तक सीमित है, और चुनाव पर साम्यवादी-दल अपना पूरा आधिपत्य क़ायम रखता है। साधारण प्रजातन्त्र के स्थान पर, साम्यवादियों के शब्दों में, 'सजीव शक्तियों की क्रान्तिकारी समता' स्थापित हो जाती है। इस प्रकार जो लोग काम नहीं कर सकते, उन्हें मताधिकार नहीं रहा, और

जिन लोगों को मताधिकार मिला, उन पर साम्यवादियों का आधिपत्य होने के कारण साम्यवादी उन्हें अपनी इच्छा के अनुसार चला सकते हैं। और इसके औचित्य का प्रमाण यह दिया जाता है कि साम्यवादी जनता की वास्तविक इच्छा को प्रकट करते हैं। दूसरे शब्दों में, यदि जनता साम्यवादी आदर्शों से प्रभावित हो जाय, तो वह इनके मत से बिलकुल सहमत होगी।

परिवर्तन-काल में साम्यवादियों के मतानुसार मज़दूरों का आधिपत्य या श्रमजीवी-दल की 'डिक्टेटरशिप' वास्तव में साम्यवादी-दल की 'डिक्टेटरशिप' है। "श्रमजीवी-दल की 'डिक्टेटरशिप' को अपना कर्तव्य पालन करने के लिए जिस क्षमता की आवश्यकता है" बुखारिन ने तीसरे 'इण्टर्नेशनल' की पाँचवी कांग्रेस में कहा था—"वह साम्यवादी-दल के द्वारा ही उत्पन्न हो सकती है। इसे युद्ध के लिए तैयार और सुसंगठित और केन्द्रीय होना चाहिये ......। इस दल को हर एक क्षेत्र में मज़दूरों का नेतृत्व ग्रहण करना चाहिये, और हर मौक़े पर मज़दूरों पर अपना प्रभाव बढ़ाने की चेष्टा करनी चाहिये।" जब कार्य के कई क्षेत्र हों;—जैसे राजनैतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक-आदि, तो इसके अतिरिक्त और कोई उपाय नेतृत्व में ऐक्य क़ायम रखने का नहीं है। साम्यवादी-दल में, उसका दावा है, मज़दूरों में से चुने हुए ख़ास आदमी होंगे। हर क्षेत्र में कार्य करने के लिए नेताओं को तैयार करने का सब से अच्छा उपाय यही है। उन्हें भली प्रकार मालूम है कि किस तरह श्रेणी-युद्ध का अन्त करके ऐसी संस्थाओं का, जो

इस झगड़े से अलग हैं, इस प्रकार रूपान्तर कर दिया जाय, जिसमें वह नई स्थिति में विशेष रूप से सहायक हो सकें। साम्यवादियों के मत में उनका दल श्रमजीवी संगठन का बहुत ही उन्नत रूप है। यह वह संस्था है, जिसके बिना शक्ति पर अधिकार क़ायम रखना असम्भव है। वह जनता को संगठित और नियन्त्रित बनाती है। वह पुरानी ग़ुलामी की ज़ंजीरों को, जिसमें करोड़ों मनुष्य बँधे हुए हैं, तोड़ देती है। "बिना एक बहुत ही शक्तिशाली दल के" लेनिन के कहा है—"जो युद्ध का पूर्णतया अभ्यस्त हो, जिस पर मज़दूरों को पूरी श्रद्धा हो, जिसे इसका पूरा ज्ञान हो कि किस प्रकार जनता को प्रभावान्वित किया जा सकता है, अपनी लड़ाई में हम विजय नहीं प्राप्त कर सकते।"

इस दल में बड़ी ज़बर्दस्त एकता होनी चाहिये। इसकी शक्ति इसी में है कि इसके अन्दर फूट न हो। "जिस समय गृह-युद्ध बहुत ही भयानक रूप धारण कर ले, उस समय साम्यवादी-दल तभी अपना उद्देश्य पूरा कर सकता है, जब वह बहुत अधिक केन्द्रीय हो। उसका नियन्त्रण इतना कठोर होना चाहिए, जैसा सेना में होता है, और उस पर एक केन्द्रीय समिति का, जिसके बहुत विस्तृत अधिकार हों, आधिपत्य होना चाहिए।" इसका तात्पर्य यह नहीं है, कि अधिवेशन में ऐसी बातों पर विवाद न किया जाय, जिनके विषय में मत-भेद है। इनकी सभाओं में वास्तव में जो बात निश्चय की जाती है, उस पर बहुत अधिक विवाद हो लेता है। इसका नियम यह है कि एक बार जब कोई बात निश्चित

हो जाय, फिर उसे अस्वीकार करने का किसी को अधिकार नहीं है। यदि कोई बहस में हार जाय, तो उसका कर्तव्य है कि विजेता को इतना पूर्ण सहयोग दे, मानो उसको अपनी ही बात स्वीकृत हो गई है। "दूसरे इन्टर्नेशनल में दलबन्दी की गुंजाइश है," लेनिन ने कहा है—"साम्यवादी इस सुख से वञ्चित हैं; क्योंकि उनका उद्देश्य शक्ति पर अधिकार जमाना है।" यही कारण है कि रूस की सार्वदेशिक सोवियट कांग्रेस की दसवीं बैठक में लेनिन का यह प्रस्ताव स्वीकार होगया, कि सब छोटे-छोटे दल तोड़ दिये जायँ और इस निश्चय के विरुद्ध आचरण करनेवालों को दल से पृथक् कर दिया जाय। इसी प्रकार जो कोई भी निजी स्वार्थ या किसी और कारण से साम्यवादियों के निश्चय पर विश्वास न करें, या ऐसे लोगों का साथ दें जो साम्यवादी नहीं हैं, उनको भी पृथक् हो जाना पड़ेगा। "युद्ध के समय असमंजस में पड़ जाने से हार हो जाती है······।" लेनिन ने कहा था—"इसलिए ऐसे लोगों का पृथक् हो जाना, जो असमंजस में है, दल को, योजना को और क्रान्ति को निर्बल नहीं करता—उल्टा सबल करता है।"

४

साम्यवादी सरकार पर आक्रमण करके शक्ति पर अधिकार जमा लेता है। इसके बाद तुरन्त वह अपना कठोर आधिपत्य स्थापित कर देता है। यह परिवर्तनशील श्रमजीवी-सरकार साम्य-वाद के विकास के फल-स्वरूप लोप होजाती है। यह रूपान्तर

किन उपायों से किया जाता है ? इस विषय में साम्यवाद ने जो कार्य-क्रम निश्चित किया है, और वास्तविक रूप से 'जो बातें' घटित हुई हैं, उनमें भेद है। यह प्रश्न बहुत ही विवादग्रस्त है, कि क्या वास्तविक आरम्भिक दशा को देखकर कहा जा सकता है, कि निर्दिष्ट उद्देश्य पूरा हो जायगा ? कुछ साम्यवादियों की सम्मति में लेनिन का आर्थिक सिद्धान्त, जिसके कारण एक बड़ी मात्रा में व्यक्तिगत व्यापार होने लगा, नियम के विरुद्ध था। लेनिन को स्थिति से विवश होकर ऐसा करना पड़ा, पर उसका विश्वास था, कि यह आवश्यकता अधिक समय तक नहीं रहेगी। साम्यवादी क्रान्ति में कुछ बातों का होना आवश्यक है। बिजली, रेल, इञ्जिनियरिंग-आदि पर उसे अधिकार जमाना होगा, बड़ी-बड़ी ज़मींदारियों को राष्ट्र की सम्पत्ति बनाना पड़ेगा। साथ ही कृषकों को इतनी भूमि देनी पड़ेगी, कि जिसमें वह इस नई व्यवस्था के विरोधी न बन जायँ; बैंकों पर और साथ में स्वर्ण-कोष पर भी क़ब्ज़ा करना पड़ेगा। हाँ, जिन लोगों की छोटी रक़में जमा हैं, उन्हें सूद देना पड़ेगा। सब व्यापार पर राष्ट्र को अधिकार करना पड़ेगा, और विदेशी व्यापारों पर एकाधिपत्य करना पड़ेगा। सरकारी क़र्ज़ों को देने से इन्कार करना पड़ेगा। सब अख़बारों पर मज़दूरों का आधिपत्य जमाना पड़ेगा। छोटे-छोटे व्यापारों को राष्ट्रीय बनाने की आवश्यकता नहीं है; क्योंकि न तो आरम्भ में उनका ठीक प्रबन्ध ही सरकार कर सकेगी, न यह सम्भव ही है, कि एक झटके में साम्यवाद पूरे तरीक़े से जमा

लिया जाय; इस बात की योजना करनी पड़ेगी, कि दस्त कारी-गर लोग नई व्यवस्था के साथ सहयोग करें, और कृषक-श्रेणी उस ओर से उदासीन भाव धारण कर ले। ग़रीब किसानों का ठीक प्रकार संगठन किया जाय, और पैसेवाले किसान यदि किसी प्रकार का विरोध करें, तो उनका दमन किया जाय। निम्न-श्रेणी के नागरिकों के साथ भी ऐसा ही व्यवहार किया जाय। उन्हें वश में करने का उपाय यह है, कि जो कुछ उनके पास है, वह उनसे न लिया जाय, उन्हें आर्थिक स्वाधीनता दे दी जाय, और ऐसा प्रबन्ध कर दिया जाय, जिसमें उन्हें ऋण लेने पर अधिक सूद न देना पड़े।

इस परिवर्तन-काल में मज़दूर की व्यक्तिगत रूप से क्या स्थिति होगी? इस विषय में साम्यवाद का मुख्य नियम है—"जो काम नहीं करेगा, उसे भोजन नहीं मिलना चाहिये।" पूँजीवाद की अराजकता का अन्त करने के लिये यह आवश्यक है, कि समाज का नये सिरे से संगठन किया जाय। मज़दूर स्वयं यह नहीं निश्चय कर सकता, कि वह कौन-सा काम करे, उसे सरकार के आदेशानुसार काम करना पड़ेगा। कई प्रकार की मज़दूरों की संस्थायें होंगी, और हर मज़दूर की रक्षा का भार उस संस्था-विशेष पर होगा, जिसके साथ उसका सम्बन्ध है। यह संस्थायें मज़दूरों की ओर से ऐसे प्रश्नों के निश्चय में भाग लेंगी; जैसे, काम प्रति-दिन के घण्टे होना चाहिये, मज़दूरी का भाव क्या होना चाहिये, कारख़ानों में कैसे सफ़ाई रक्खी जाय,—आदि।

इन संस्थाओं को साम्यवादी-दल के आधिपत्य में रहकर काम करना होगा; क्योंकि ऐसा न होने से वह परिवर्तन-काल में अपना कर्तव्य ठीक प्रकार पालन नहीं कर सकतीं। मजदूरों के लिये विशिष्ट शिक्षा का प्रबन्ध किया जायगा, और बहुत उच्च कोटि के काम के लिये पारितोषिक मिलेगा। पर औद्योगिक स्वराज्य के विषय में तो प्रश्न ही नहीं उठता। "एक आदमी, जो किसी काम को भला प्रकार जानता है, यदि उसे हटाकर कई ऐसे आदमियों की एक परिषद् बना दी जाय, जो उस काम से अनभिज्ञ हैं, तो सिवाय हानि के लाभ नहीं हो सकता।" ऐसा ट्रॉट्सकी ने कहा है—"केवल परिषद् के बना देने से अनभिज्ञ जन ज्ञान नहीं लाभ कर सकते। वह केवल अनभिज्ञों की अभिज्ञता को प्रकट नहीं होने देगी।" प्रबन्ध-कार्य व्यक्ति-द्वारा होने से उत्तरदायित्व रहता है—बुद्धि-स्वातन्त्र्य और प्रतियोगिता रहती है। मज़दूरों के हितों की इन साधनों से रक्षा होगी। फल की आलोचना से, कुल हिसाब और जो माल बना है, उसके ब्यौरेवार ठीक-ठीक प्रकाशन से, 'ट्रेड यूनियन' या राजनैतिक-दल के द्वारा उसकी आवश्यकताओं का ज्ञान संचालकों को होने से, उसकी स्थिति में यह अन्तर हो जायगा, कि अब उसे समाज के हित के लिये संगठित रूप में कार्य करना पड़ेगा। पहले उसे पूँजीवादियों के हित के लिये ऐसा करना पड़ता था। "वर्गवाद की अर्थ-नीति" ट्रॉट्सकी ने कहा है—"मज़दूरों में विवेक और नई बातों को सोचने की क्षमता उत्पन्न करना चाहती है।"

संगठन का कर्तव्य यह होगा, कि यदि किसी व्यक्ति में उन्हें असाधारण योग्यता का भास हो, तो शासकों के बनाये हुए नियमों के अन्तर्गत उसके विकास का मौक़ा दें। व्यक्ति को विशिष्ट स्थिति पर निर्भर रहना पड़ेगा। इस प्रकार जैसे-जैसे साम्यवाद की शिक्षा अपने ध्येय की प्राप्ति के निकट पहुँचती जायगी, वैसे-वैसे एक साम्यवादी अर्थ-नीति भी विकसित होती जायगी, और अन्त में यह अर्थ-नीति सरकार का स्थान ले लेगी। "जब तक यह स्थिति न आजाय," ट्रॉट्‌सकी ने कहा है—"तब तक वर्गवाद को ऐसी स्थिति में होकर गुज़रना पड़ेगा, जिसमें सरकारी सिद्धान्तों का अतिशय रूप में पालन किया जाय।"

साधारण रूप से इन बातों से ऐसा प्रतीत होता है, कि व्यक्तित्व को बुरी तरह से दबाया जारहा है। एक दृष्टि से यह सत्य भी है। साम्यवादी इस दोषारोपण का क्या उत्तर देते हैं? पहली बात तो यह है, कि व्यक्ति की दशा इस अर्थ-नीति में पूँजीवादी अर्थ-नीति से कहीं अच्छी है। उसमें न तो वह यह निश्चय कर सकता है, कि वह कौन-सा काम करे, और न यही बात निश्चित है, कि उसे काम मिल ही जायगा। परिवर्तनशील श्रमजीवी सरकार में उसे अपना काम स्वयं निश्चय करने की स्वाधीनता तो नहीं है, पर यदि वह काम करना चाहता है, तो उसे काम अवश्य मिलेगा। और अपने काम के निश्चय में यदि वह असमर्थ है, तो एक बहुत बड़ा लाभ भी है, और वह यह है, कि उसे जो कुछ भी करना पड़ता है, वह आदर्श की प्राप्ति में

सहायक है। यदि उसमें विशेष योग्यता है, तो वह उन्नति करके एक विशेष व्यक्ति बन सकता है। साथ-ही उसकी स्थिति को निश्चय करने का अधिकार उसके मालिक को नहीं, बल्कि श्रमजीवी-सरकार को है। श्रमजीवी-सरकार की इच्छा क्या है, इस बात को साम्यवादी 'डिक्टेटरशिप' परिस्थिति देखकर निश्चय करती है। यदि वह साम्यवादी-दल का सदस्य होजाय, तो फिर वह अपने विचारों का प्रचार उन लोगों में कर सकता है, जो अधिकारी हैं।

उद्योग के विषय में इतना कहा जा सकता है। साम्यवाद का यह दावा है कि इस परिवर्तन-काल में उसके द्वारा जनता को आध्यात्मिक लाभ होगा। उत्पादन के साधनों पर पूँजीवाद का अधिकार घटने के साथ-साथ पूँजीवाद का शिक्षा पर से भी आधिपत्य घटता जायगा। सामाजिक कार्य के हर क्षेत्र में, यदि वास्तव में श्रमजीवी-समुदाय नए समाज का निर्माण करना चाहता है, तो उसे बड़े-से-बड़ा काम करने की क्षमता प्राप्त करना चाहिये। इसके लिये यही काफ़ी नहीं है कि विशेषज्ञ तैयार किये जायँ। साथ ही साधारण मज़दूर-श्रेणी की संस्कृति का धरातल भी ऊँचा होना चाहिये। कलाओं में, विज्ञान में, राजनीति में, उसे उपस्थित साधनों-द्वारा ज्ञान-लाभ करने का पूरा हक़ होना चाहिये। इस प्रकार की शिक्षा आरम्भ से ही साम्यवाद के अनुकूल होनी चाहिये। साम्राज्यवादी सरकार में शिक्षा का उद्देश्य यह था कि मज़दूर यह न समझें कि वह ग़ुलाम हैं, श्रमजीवी-शासन में

उद्देश्य यह है कि उन्हें जता दिया जाय कि वह मालिक बन सकते हैं। बुखारिन ने कहा है—"मानसिक क्षेत्र में भी साम्यवाद को उसी प्रकार साम्राज्यवादी समाज का मूलोच्छेद करने का प्रयत्न करना चाहिये, जैसा कि वर्गवादियों ने आर्थिक क्षेत्र में उत्पादन के साधनों को राष्ट्रीय बनाकर किया है। मनुष्यों के मन इस नई स्थिति को ग्रहण करने के लिये तैयार कर लिए जाने चाहियें। यदि जनता साम्यवादी समाज की स्थापना में कठिनाई अनुभव करती है, तो इसका कारण यही है कि मानसिक क्षेत्र में अभी उसका साम्राज्यवादी विचारों से छुटकारा नहीं हुआ है।" साम्यवाद के विश्वास के अनुसार समाज के पुनर्संगठन में शिक्षा-द्वारा आन्दोलन-कार्य होना चाहिये।

शिक्षा की योजना के साथ-साथ साम्राज्यवादियों के धार्मिक-पाखण्डों का भी खण्डन होना चाहिये। इस कार्य में, साम्यवादी स्वीकार करते हैं, बड़ी सावधानी की आवश्यकता है; क्योंकि मज़दूर-श्रेणी के हृदय पर धर्म का बहुत प्रभाव है। पर उनकी विचार-धारा का पता मार्क्स की इस बात से लग जाता है कि "धर्म जनता के लिये एक प्रकार का नशा है।" धर्म और साम्यवाद में प्रतिकूलता है; क्योंकि ऐतिहासिक पदार्थवाद के आधार पर जो नियम बनाये गए हैं, उनकी दृष्टि में सामाजिक विकास पर किसी अप्राकृतिक शक्ति का प्रभाव नहीं पड़ता। साथ ही धर्म के कई नियमों में और साम्यवाद के कार्य-क्रम में प्रतिकूलता है। उदाहरणार्थ, ईसाई-धर्म इस बात पर ज़ोर देता है कि

आदमी का कर्त्तव्य है कि जिनके हाथ में शक्ति है, उनके सामने नत-मस्तक हो, अपने को कष्ट सहने का अभ्यस्त बनावे। यह सब बातें साम्राज्यवाद के विरुद्ध आन्दोलन करने में बहुत रुकावट पैदा करनेवाली हैं।

धर्म के विरुद्ध आन्दोलन के दो रूप हैं। यह अधिक दुस्तर नहीं है कि परिवर्तन-काल में धर्म और राजनीति का सम्बन्ध अलग कर दिया जाय, और शिक्षा-संस्थाओं पर जो उसका प्रभाव है, उसका भी अन्त कर दिया जाय। धर्म को एक बिल्कुल ही व्यक्तिगत चीज़ बना देने से और अधिकारियों से उसे कोई सहायता न मिलने से उसकी मर्यादा कम हो जायगी। शिक्षा-संस्थाओं में शिक्षा-प्रणाली के द्वारा बच्चों के हृदय में उन धार्मिक दन्त-कथाओं का प्रवेश ही रोक देना चाहिये, जिन पर बहुत-से आदमी जीवन-भर विश्वास किया करते हैं। पर यह इस कार्य का केवल एक रूप है। अधिक कठिनाई उन अन्ध-विश्वासों को मन में से निकालने में होगी, जो असत्य सिद्ध होने पर भी बहुत दिनों तक मन पर आधिपत्य जमाये रहते हैं। इस कार्य में अधिक समय लगेगा। धर्म के इस रूप का ह्रास धीरे-धीरे होगा;—कुछ तो उसके विरुद्ध आन्दोलन करने से, और कुछ शिक्षा के प्रचार से। पर साम्यवादियों का विश्वास है कि सब से अधिक महत्त्व की बात इस विषय में पूँजीवादी समाज के स्थान पर साम्यवादी समाज की स्थापना सिद्ध होगी। पूँजीवादी समाज ने धर्म का केवल इसलिए समर्थन किया, कि उसने

अपनी आन्तरिक बातों को सदा छिपाना चाहा। मज़दूर को यह पता नहीं लगता था, कि क्या और क्यों यह सब-कुछ होरहा है। उसे यह बतलाया जाता था, और वह इस बात पर सरलता से विश्वास भी कर लेता था, कि सब बातें ईश्वर की इच्छा से होरही हैं। इसलिए वह उन बातों में विश्वास करके एक ऐसी संस्था का समर्थन करता था, जिसका अस्तित्व ईश्वर की इच्छा पर निर्भर था। साम्यवाद के आते ही कोई बात छिपी हुई या रहस्यमय नहीं रह जायगी। मज़दूर बड़ी सफलता से सारे सङ्गठन को समझ सकेगा। "उत्पादन के कुल व्यापार में कोई रहस्य की बात नहीं होगी," बुख़ारिन ने लिखा है—"साम्यवाद के सङ्गठन और विकास के कारण ही धर्म में लोगों का विश्वास बहुत कम हो जायगा। पूँजीवाद के अन्त के उपरान्त जो समय ऐसे समाज की स्थापना में लगेगा, जिसमें श्रेणी-बद्धता और श्रेणी-युद्ध न हो, उसी में धर्म और पाखण्ड का स्वयं अन्त हो जायगा।"

साम्यवादी इस बात को स्वीकार करते हैं, कि श्रमजीवी-सरकार की विजय तब ही हो सकती है, जब उसका उत्पादन आर्थिक दृष्टि से पूँजीवादी सरकार की अपेक्षा उत्कृष्ट हो। लेनिन और ट्रॉट्सकी ने इस बात पर बहुत ज़ोर दिया है, कि श्रमजीवी सरकार का पहला कर्तव्य यह है, कि आलस्य का नाम और निशान मिटा दे। "सामाजिक सङ्गठन के सम्मुख समस्या यह है कि 'आलस्य' को कार्य-पद्धति द्वारा मिटा दे, जनता उचित

नियमों का पालन करके इस बात को सम्भव बना सकती है, और इन नियमों को भी स्वयं जनता ही बनायेगी। इसके कई उपाय हैं—कार्य करने को विवश होना, आन्दोलन, काम देखकर मज़दूरी देने की प्रथा, स्वयंसेवकों की माँग,-आदि।" ट्रॉट्सकी ने मज़दूरों में सेना-पद्धति का प्रवेश करना चाहा था, पर इसका फल अधिक सन्तोषजनक नहीं हुआ। इस क्षेत्र में भी वह उसी आत्म-विश्वास से काम लेते हैं, जैसा और क्षेत्रों में। उनका विश्वास है कि साम्यवाद के विकास के फल-स्वरूप ही मज़दूर नए उत्साह से काम करेंगे। उनके विचार में साम्राज्य-वादी भावों के नष्ट हो जाने पर कार्य करने को विवश होना जनता को खलेगा नहीं। समानता का अनुभव, नई परिस्थितियों में प्रति व्यक्ति के श्रम का जो सन्तोषजनक फल होगा,-आदि के कारण पहले के प्रचलित विचार इस नई स्थिति में लागू नहीं होंगे मज़दूर जब यह समझ लेगा कि इस नई स्थिति में उसे किस कारण से पूँजीवाद के समय में जितना परिश्रम करना पड़ता था, उससे अधिक परिश्रम करना चाहिये, तो वह स्वयं ही हर्ष के साथ ऐसा करेगा। वह यह समझ लेगा कि जैसे ही उत्पादन में आधिक्य के द्वारा सरकार सब को भरण-पोषण की यथेष्ट सामग्री दे सकेगी, वैसे ही मज़दूरी की प्रथा उठ जायगी। वह बड़े उत्साह से इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए श्रम करेगा। काम करने को विवश होना साम्यवाद तक पहुँचने का मार्ग है। यह बात जब तक स्वीकार न की जायगी, नई सरकार का जीवित रहना

कठिन है। इस बात का समझना आवश्यक है। इससे दृढ़ निश्चय उत्पन्न होगा, और सफलता मिलेगी।

५

यदि श्रमजीवी-सरकार की सब समस्याएँ सन्तोषजनक रूप से हल हो जायँ, पूँजीवादियों का विरोध शान्त हो जाय, उत्पादन यथेष्ट रूप से होने लगे; यहाँ तक कि सब बातें ऐसी हो जायँ, जिनसे यह प्रतीत हो, कि अब सरकार वास्तव में धीरे-धीरे लोप हो जायगी, और साम्यवाद पूर्ण रूप से सफल हो जायेगा, उस समय समाज की क्या विशेषताएँ होंगी? उन बातों को ठीक समझने के लिए हमारे पास कौन-सा मसाला है?

इस विषय में जो कुछ भी कहा जा सकता है, वह अनुमान के आधार पर ही कहा जा सकता है. और मार्क्स और उसके अनुयाइयों ने यह बड़ी बुद्धिमत्ता का काम किया कि अपने से पहले विचारकों की तरह ख़याली पुलाव नहीं पकाए। उनका यह अनुमान था कि सरकार को लोप होने में काफ़ी समय लगेगा. और यह क्रिया बहुत कुछ नई संस्थाओं-द्वारा उत्पादन में कितना विकास हुआ, इस प्रश्न के उत्तर पर निर्भर होगी। उनका यह कहना उचित है, कि इस कार्य में कितना समय लगेगा, और नई योजना का वास्तविक रूप क्या होगा, यह बतलाना कठिन है। केवल इतना ही निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि नए समाज का मूल सिद्धान्त यह होगा—"हर

व्यक्ति अपनी योग्यतानुसार परिश्रम करे, और अपनी आवश्य-कतानुसार मज़दूरी ले।" नए समाज की स्थापना तब होगी, लेनिन ने कहा है—"जब सब लोग सामाजिक नियमों का पालन करने में अभ्यस्त हो जावेंगे, और उनके श्रम के द्वारा उत्पादन की इतनी उन्नति हो जायगी कि वह अपनी इच्छा से अधिक-से-अधिक जितना श्रम कर सकते हैं, करने लगें...... । जब ऐसी स्थिति उत्पन्न होजायगी, तब समाज को यह आवश्य-कता न रहेगी, कि व्यक्तिगत भाग निश्चित करने के लिए उसे यह देखना पड़े कि किसने कितना काम किया है। उस समय तो हर व्यक्ति स्वाधीनता से उतना लेलेगा, जितने की उसे आवश्यकता है।"

उस दशा में विवश करने की आवश्यकता नहीं रहेगी। व्यक्ति स्वतन्त्रता से अधिक-से-अधिक परिश्रम करेगा, और आनन्द से उसके फल का उपभोग करेगा। इस नये समाज के विषय में अधिक कहना असम्भव है। श्रमजीवी 'डिक्टेटरशिप' के द्वारा जनता को बहुत उपयोगी शिक्षा मिलेगी, ऐसा सम्भव है। पहले-पहल जनता को इस बात का अभ्यस्त होना पड़ेगा कि सब काम करें, और बराबर मज़दूरी लें। शासन के कार्य बहुत सरल हो जायँगे, और हर किसी की समझ में आने लगेंगे। "कुल समाज" लेनिन ने लिखा है—"मानो एक ही कारख़ाना है, जिसमें सब बराबर काम करते हैं, और बराबर-बराबर मज़दूरी लेते हैं।" भिन्न श्रेणियों और आर्थिक शोषण-

नीति का अन्त हो जायगा। सार्वजनिक कार्यों से सरकार का सम्बन्ध नहीं रह जायगा।

उचित समय आने पर सरकार का अन्त हो जायगा। इस स्थिति की व्याख्या करते हुए स्वयं लेनिन ने कहा है—"जब सब को या कम-से-कम बहुसंख्या को यह मालूम हो जायगा कि सरकार का किस प्रकार सञ्चालन किया जाय; जब सब लोग अपना काम स्वयं ही करने लगेंगे; जब काम करनेवालों का आधिपत्य थोड़े-से पूँजीपतियों पर, उन मध्य श्रेणीवालों पर, जिनके मन में पूँजीवाद के प्रति श्रद्धा है, और उन मज़दूरों पर, जिनका पूँजीवाद के कारण घोर पतन होगया है, हो जायेगा, उस समय से शासन-कार्य की आवश्यकता नहीं रह जायगी;... क्योंकि जब सब में प्रबन्ध करने की योग्यता आ जायगी और वास्तव में प्रबन्ध करने लगेंगे, उत्पादन पर जनता का अधिकार हो जायगा, जब सब ही लोग आलसियों पर, कामचोरों पर, बदमाशों पर दृष्टि रखने लगेंगे, तो इस देख-भाल से किसी का बचना इतना अधिक कठिन होगा, और दण्ड इतना कठोर दिया जायगा, कि कुछ ही समय में समाज के नियमों का पालन लोग अभ्यासवश ही करने लगेंगे। उस समय साम्यवादी समाज दूसरी स्थिति में पदार्पण करेगा, और इसके साथ-ही-साथ सरकार लुप्त हो जायगी।"

जो बात कल्पना पर निर्धारित है, उसकी आलोचना ठीक प्रकार नहीं हो सकती। केवल उन कुछ सम्भावनाओं की

कल्पना करना यथेष्ट होगा, जिनकी चर्चा नहीं हुई है। भय के द्वारा आज्ञा-पालन का अभ्यास कराया जायेगा। इससे लोगों के नये संस्कार उत्पन्न होंगे, और इनके द्वारा अन्याय और लोभ का, जो पूँजीवाद के साथी हैं, नाश हो जायगा। जब शोषण नहीं रहेगा, तो लोगों में अधिक परिश्रम करने का उत्साह उत्पन्न हो जायगा। शिक्षा के प्रचार के द्वारा सब को अपने कर्तव्य का पता लग जायगा और फिर सब स्वयं अपनी इच्छा से घोर परिश्रम करने लगेंगे; उन्हें ऐसा करने के लिए बाध्य करने की आवश्यकता नहीं रह जायगी। नये समाज के पास पुराने की अपेक्षा अधिक धन होगा; क्योंकि इसकी शक्ति बढ़ी हुई होगी, और समाज में और उसके अङ्गों में उस प्रकार का कटु सम्बन्ध नहीं होगा, जैसा पूँजीवादी और मज़दूरों में था।

दो बातों को प्रसंगवश और कह देना उचित है। साम्यवाद के मत में नया समाज बहुत अधिक समय के विकास का फल है; उसके आदर्श की पूर्ण प्राप्ति का भार आनेवाली सन्तति पर है। जब संग्राम समाप्त हो जायगा, और जनता कष्टों की अग्नि-परीक्षा में उत्तीर्ण हो जायगी, तब आदर्श की प्राप्ति का समय आवेगा। दूसरी बात यह है कि शासन के अन्त से उसका तात्पर्य यह नहीं है कि समाज अराजकता का शिकार होजाय। साम्यवाद सुव्यवस्था का बड़ा पक्षपाती है। केवल उसमें और उसके विरोधियों में यह अन्तर है कि वह तो यह चाहता है कि सुव्यवस्था का आधार जनता के अच्छे संस्कार और जनता की अपनी हार्दिक

प्रेरणा हो, और पूँजीवादी इसे जनता को विवश करके उत्पन्न करना चाहते हैं। जब सरकार लुप्त हो जायगी, उस समय जनता को संस्कृति और उत्तरदायित्व अनुभव करने की योग्यता में पिछड़ा हुआ नहीं छोड़ जायगी। पूँजीवादी सरकार तो अन्याय करती है, इसलिए जब उसका कहीं अन्त होता है, तो उसके द्वारा जो संस्कार उत्पन्न हुए हैं, उनका भी अन्त हो जाता है। उसके स्थान पर जो व्यवस्था स्थापित होती है, वह जन-मत की सहायता से काम करती है; शक्ति से नहीं। साम्यवादी के विचार में शक्ति और सरकार अभिन्न हैं, इसलिए वह इसके अन्त का इच्छुक है।

६

साम्यवाद की सरकार के सिद्धान्त में अन्य तर्क-सिद्धान्तों की भाँति एक बात यह है कि जो कुछ करने का दावा उसने किया है, वह बहुत ज़ोरदार है, पर जिन बातों से उसने इन्कार किया है, वह ऐसी ज़ोरदार नहीं है। प्रचलित सिद्धान्त की उसने जो आलोचना की है, वह बहुत अंश में ठीक है। आदर्श और वास्तविकता में बड़ा अन्तर है। साथ ही यह भी सत्य है कि कभी भी शक्तिशाली समुदाय ने बिना विवश हुए न तो अपने अधिकारों को छोड़ा और न अपनी शक्ति को समाज के हित में लगाया। मनुष्य शक्ति का उपासक है, वह उसका पीछा तब भी नहीं छोड़ता, जब समय बदल जानेवाली शक्ति का उसके अधिकार में रहना असम्भव होगया हो, और वह विश्वास कर

लेना अनुचित न होगा कि पूँजीवादी शासन-शक्ति की भी यही दशा है। प्रजातन्त्र की आलोचना भी साम्यवाद ने युक्ति-सङ्गत की है। केवल सब को मताधिकार दे देने से और प्रतिनिधि-संस्थायें बना देने से ऐसी स्थिति नहीं उत्पन्न हो सकती, जिसमें जनता के हितों की यथेष्ट रक्षा हो सके।

यह दावा करना कि वर्तमान समाज दोषपूर्ण है, सहज है;—औरों ने भी ऐसा किया है—पर यह कहना कि इन दोषों को दूर करने का एक-मात्र उपाय घोर अशान्ति और रक्त-पात का अवलम्बन करना है, और फिर इस अशान्ति और रक्त-पात से एक आदर्श समाज का जन्म होगा, मुश्किल-से समझ में आने की बात है। विरले ही अवसरों पर क्रान्ति-द्वारा वास्तविक उद्देश प्राप्त हो पाते हैं। क्रान्ति को एक निश्चित मार्ग पर चलाना असम्भव है। जो लोग क्रान्ति का सञ्चालन करते हैं, उन्हें बहुधा नई माँगों से दबकर अपने उद्देश्य से हट जाना पड़ता है। जिस समय किसी नेता के हाथ में अधिकार आता है, उस समय दूसरा उद्देश्य होता है और अधिकार प्राप्त कर लेने पर यह उद्देश्य बहुधा बदल जाया करता है। यह भी सम्भव है कि विरोधी क्रान्ति की लहर को दबा दें, और फल-स्वरूप जो स्थिति उत्पन्न हो, वह पहिली स्थिति, जिसके कारण क्रान्ति की गई थी, से भी बहुत अधिक भयङ्कर हो। क्रॉमवेल के विषय में लॉर्ड मॉर्ले ने लिखा था—"क्रान्ति के नेता को अँगारों पर चलना पड़ता है। उसके लिए यह जानना असम्भव है कि अन्त को वह कहाँ पहुँ-

चेगा। जिन भयङ्कर शक्तियों का वह उपयोग करता है, उनको पूरे तौर पर वश में रखना कठिन है, और क़दम-क़दम पर वह नए गुल खिलाती हैं। उसके सन्मुख तीन समस्यायें होती हैं। एक तो आरम्भिक सफलता—जिसमें शक्ति पर अधिकार जम जाय। दूसरी बात यह है कि जो अधिकार प्राप्त होगये, उनकी रक्षा करना। दस वर्ष से अधिक बीत जाने पर भी रूस की स्थिति अभी ठीक रूप में नहीं आई है। तीसरी बात यह है कि नये समाज का निर्माण ऐसे सिद्धान्तों के अनुसार होना चाहिये, जिनसे आदर्श प्राप्त हो सके। इन तीनों समस्याओं में बहुत जटिल परिस्थितियों का समावेश है। साम्यवादी इनकी ओर विशेष ध्यान नहीं देते।

क्रान्ति के लिए जो तैयारी करनी पड़ती है, उसका आधुनिक रूप भिन्न है। १८७१ में नागरिक लोग सेना का सुगमता से सामना कर सकते थे; क्योंकि उनके पास भी वैसे ही हथियार होते थे, जैसे सेना के सिपाहियों के पास। मार्क्स ने अपना मत इस अनुभव के आधार पर निश्चित किया था। यदि राज्य की सेना उसकी संस्थाओं की रक्षा न करे, तो नागरिक उन्हें नष्ट कर सकते हैं, और जैसा क्रॉमवेल के समय में हुआ था, यदि सेना अपने शासकों से असन्तुष्ट हो जाय, तो उन्हें सेना के आधीन हो जाना पड़ेगा। १९१७ में लेनिन को भी ऐसा ही अवसर मिला था, और उसने उसका उपयोग भी बड़ी योग्यता से किया। पर आधुनिक शासन-व्यवस्था में साम्यवादी-दल की

स्थिति बहुत भिन्न है। जब तक बहुमत उनके पक्ष में न हो, और राज्य का सञ्चालन उनके हाथ में न हो, तब तक सेना और सैनिक-बेड़ा निश्चय रूप से उनका विरोध करेगा। उन्हें अस्त्र-शस्त्रों की प्राप्ति में भी बड़ी बाधायें होंगी। उन्हें शस्त्रागारों पर क़ब्ज़ा करने की आवश्यकता होगी, और ऐसा करने में उसके रक्षकों से युद्ध करना पड़ेगा। उनके पास वैज्ञानिक और हवाई युद्ध के लिए आवश्यक सामग्री होनी चाहिये, और उसके उपयोग का यथेष्ट ज्ञान होना चाहिये। ऐसा वह तभी कर सकते हैं, जब स्थानीय शासन बिल्कुल शक्तिहीन हो। जनता का बड़ा भाग उन्हें उपेक्षा की दृष्टि से देखेगा। उन्हें खाद्य पदार्थों का यथेष्ट प्रबन्ध करना पड़ेगा, और उन देशों में, जो कृषि-प्रधान नहीं हैं, सरकार की साख बिगड़ जाना बड़ा हानिकर है। क्रान्ति के कारण रूस की साख बिगड़ गई थी। यदि आम हड़ताल को भी हम क्रान्ति का एक अस्त्र समझ लें, तो उसके मार्ग में भी बड़ी बाधायें हैं। सम्भव है, युद्ध का विरोध करने में उसे सफलता प्राप्त होजाय; क्योंकि उस कार्य में उसे प्रायः सभी से सहानुभूति मिलेगी। पर और किसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए फिर यही कहना पड़ा है कि सेना और सैनिक बेड़े की सहायता के बिना सफलता अति दुस्तर है। यह तभी सम्भव है, जब या तो स्थानीय शासन-सत्ता इतनी शक्तिहीन होगई हो, कि कुछ कर ही न सके, या जनता का बहुत बड़ा भाग क्रान्तिकारी दल के साथ क्रियात्मक सहयोग करने को तैयार हो। आधुनिक

सभ्यता में समाचार-पत्रों तथा और साधनों के द्वारा ख़बर इतनी शीघ्रता से फैल जाती है, कि किसी बड़ी योजना की तैयारी चुपचाप नहीं हो सकती।

यह तो केवल आरम्भिक स्थिति के सम्बन्ध की बातें हैं। आजकल एक देश का दूसरे देशों से सम्बन्ध होना अनिवार्य है। उदाहरणार्थ इँग्लैण्ड में, जिसका विदेशों के साथ बहुत व्यापार है, क्रान्ति तब ही सफल हो सकती है, जब समीपवर्ती दूसरे देश बिल्कुल दख़ल न दें। अमेरिका कभी ऐसा नहीं करेगा; क्योंकि अमेरिका और इँग्लैण्ड में व्यापारिक विच्छेद क्रान्ति के लिये घातक है। यदि रूस क्रान्तिकारियों की सहायता के लिये आगे बढ़ेगा, तो फल यह होगा, कि एक महायुद्ध छिड़ जायगा, जिसमें सब देशों को भाग लेना पड़ेगा, और उसका फल विजयी और पराजित दोनों के लिये महा-भयङ्कर होगा।

यह ही नहीं, जो श्रेणी-विभाजन साम्यवाद ने किया है, उसे सब लोग स्वीकार नहीं करेंगे। अमेरिका-जैसे देश में कम-से-कम तीन बातें इसके अतिरिक्त और होंगी। अमेरिका इतना अधिक दूर है, कि वहाँ तक पहुँचना कठिन है, और इसलिये वहाँ आरम्भ में ही क्रान्ति का दब जाना बहुत सम्भव है। वहाँ की स्थिति और फ्रांस-जैसे देश की स्थिति में बड़ा अन्तर है। वाशिंगटन, न्यूयॉर्क और बोस्टन में यदि एक ही समय में साम्यवादी क्रान्ति आरम्भ कर दें, तो उधर के समाचार-पत्र उसे अधिक महत्व नहीं देंगे। यदि कुल द्वीप पर अधिकार करने की

चेष्टा की जायगी, तो बहुत ही विस्तृत और जटिल प्रबन्ध-रज्जु पर अधिकार प्राप्त करना पड़ेगा। ऐसा करने में सफलता तभी हो सकती है, जब कि जनता को क्रान्तिकारियों के साथ असीम सहानुभूति हो। ऐसी सहानुभूति होने पर बिना क्रान्ति के ही सफलता निश्चित है। किसी प्रकार यदि इन कठिनाइयों का निराकरण हो भी जाय, तो फिर तो भिन्न-भिन्न देशों के निवासियों की उपस्थिति के कारण एक और कठिनाई का सामना करना पड़ेगा। जर्मन, फ्रेञ्च, अँग्रेज़, आइरिश, पोलिश-आदि में अपनी-अपनी विशेषताएँ हैं, जिनका उपयोग अमेरिकन पूँजीपति इस प्रकार से करते है, जिससे यह लोग भी सन्तुष्ट रहते हैं। यदि इन भिन्न-भिन्न देशवालों में थोड़े-थोड़े साम्यवादी हैं, तो उनके प्रभाव से यह कैसे सम्भव हो सकता है, कि सब लोग साम्यवाद के आदर्श से प्रभावान्वित होकर अपने जाति-भेद को भुला दें? इसके अलावा धर्म का प्रश्न भी है। और लेटिन-जातियों के हृदय से 'धर्म' का प्रभाव दूर कर देना सहज नहीं है। यदि यहा जाय, कि अब वह ज़माना नहीं है, कि लोग देश और धर्म की विशेष चिन्ता करते हों, और आर्थिक असमानता से जिन भेदों की उत्पत्ति होगई है, वही सर्व-प्रधान हैं, तो भी निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता, कि जनता की प्रवृत्ति एकदम-से साम्यवाद की ओर होजायगी। जब मताधिकार सब को प्राप्त होगया है, तो उचित मार्ग यह प्रतीत होगा कि निर्वाचन में सफलता-द्वारा साम्यवादी शक्ति अपने हाथ में कर लें,

और फिर ऐसी स्थिति उत्पन्न कर दें, जिसमें विद्रोह करने की आवश्यकता उन्हें न रह जाय। पूँजीवादी यदि चाहें, तो विद्रोह करें। इस मार्ग का अवलम्बन करने में साम्यवादियों को कई लाभ हैं। एक तो यह कि आजकल जनता का बहुत बड़ा भाग इस बात का इच्छुक रहता है, कि जीवन शान्तिमय रहे। वह इसलिये शान्तिमय उपायों का समर्थन करता है कि उस भाग की सहानुभूति साम्यवादियों के साथ होजायगी। दूसरे यह, कि सेना और सैनिक बेड़े की शक्ति उसके पक्ष में रहेगी, और यदि उसका कुछ भाग विरुद्ध भी होजाय, तो कुछ भाग अवश्य ही पक्ष में रहेगा, और विरुद्ध भाग का मुक़ाबला करने को तैयार रहेगा। इस भाँति एक बहुत बड़ी विपत्ति का निराकरण हो जायगा।

इस समस्या के कुछ और अंशों की ओर भी साम्यवादियों ने ध्यान नहीं दिया है। हिंसात्मक उपायों का, विशेषतया जब आजकल के युद्ध में अति घातक साधनों का उपयोग किया जाता है, समाज पर क्या प्रभाव पड़ेगा। और इसके कारण जो क्रान्ति के विरोधियों के मन पर प्रभाव पड़ेगा, उसका क्या परिणाम होगा। इसके उत्तर में सिर्फ़ इतना कह देना, कि हिंसात्मक क्रिया अनिवार्य है, काफ़ी नहीं है। ऐसी बात वह ही कह सकता है, जिसने राजनैतिक मनोविज्ञान की गम्भीर विवेचना की हो। यदि क्रान्ति को साम्यवादी इसलिए अनिवार्य समझते हैं कि उनका तद्विषयक निश्चय इतिहास के अनुभव पर निर्धारित

है, तो किसी दूसरे मत के समर्थक भी इतिहास से अपने अनु-कूल युक्तियाँ ढूँढ़कर क्रान्ति का मार्ग-अवलम्बन कर सकते हैं, और ऐसी दशा में समाज किसी भी आदर्श को मानकर सुरक्षित नहीं रह सकता। जिन युक्तियों-द्वारा साम्यवादी-क्रान्ति का सम-र्थन हो सकता है, उन्हीं युक्तियों-द्वारा 'फ़ैसिस्ट'-क्रान्ति का भी समर्थन हो सकता है। युद्ध में यह अनुभव प्राप्त हो चुका है कि जिस समय मनुष्य की घातक प्रवृत्ति जाग्रत् होजाती है, उस समय वह इतने भयानक काम कर सकता है, जो मनुष्यत्व का नाश कर दें। यदि संसार में क्रान्ति का इतना अधिक आतंक जम जायगा, तो सभ्यता का नाम-निशान मिट जायगा, और जैसा कि मि० वेल्स ने कहा है कि कोई वृद्ध पुरुष सुशासित यूरोप का हाल अपने पौत्रों को सुनावेगा, तो वह उसे समझ ही न पावेंगे। हिंसात्मक उपायों का व्यापक रूप उस मनोवृत्ति का नाश कर देगा, जिसकी साम्यवाद की सफलता के लिये विशेष आवश्यकता है। साम्यवाद की सफलता के लिये उन वृत्तियों के दमन की आवश्यकता है, जिन्हें हिंसा जाग्रत् करती है। इसका उत्तर साम्यवादियों ने इसके सिवा और कुछ नहीं दिया है, कि 'डिक्टेटरशिप' इन वृत्तियों को नष्ट कर देगी। यह युक्ति दमन-नीति की समर्थक है। समाज में पूँजीवाद का घोर दमन करने पर भी यदि साम्यवाद जीवित रहे, तो दमन की नाश करने की शक्ति उतनी प्रबल नहीं हो सकती, जितना उसे समझ लिया गया है।

इसके अतिरिक्त एक प्रश्न और है। साम्यवादियों का विश्वास है कि जब शक्ति पर उनका अधिकार जम जायगा, तो थोड़े दिन के कठोर शासन के उपरान्त जनता साम्यवाद के लिए तैयार हो जायगी। पर वह यह नहीं बतलाते कि इसमें कितना समय लगेगा, और समय आ जाने पर भी यह कैसे मान लिया जाय कि जिन लोगों के हाथ में शक्ति होगी, वह अपनी अधिकार छोड़ने को तैयार हो जावेंगे। यह बात अनुभव-सिद्ध है कि अधिकार में एक प्रकार का नशा होता है। यह किस तरह माना जा सकता है कि साम्यवादी 'डिक्टेटर' इससे प्रभावान्वित नहीं होगा? कोई भी संस्था, जो कठोर शासन करती है, प्रजातन्त्र के अनुकूल आचरण करने की अभ्यस्त नहीं रह सकती। इस बात के उदाहरण भी मिल सकते हैं। सर हेनरी जेम्स और फिट्ज़ जेम्स स्टीफ़न भारतवर्ष में रहकर बर्बर शासन के अभ्यस्त हो गए थे। जब वह इङ्गलैण्ड लौटे, तो वहाँ यह देखकर कि यहाँ जन-मत को धीरे-धीरे अपने पक्ष में करने के बाद ही कोई काम किया जा सकता है, वह बिगड़ उठे। किसी पद पर हो जाने से धीरे-धीरे मनुष्य के विचार बदल जाते हैं, और उसमें और जिन पर वह शासन करता है, अन्तर उत्पन्न हो जाता है। शासन-संस्था का अपना हित इसमें है कि उसके अधिकार सदा बने रहें, उसका महत्त्व घटने न पावे, और वह उनकी रक्षा के लिए सदा प्रयत्नशील रहती है। 'डिक्टेटरशिप' पर भी यही बात लागू हो सकती है। वह भी सहर्ष अधिकार-त्याग करने को सम्भवतः प्रस्तुत नहीं हो.

सकेगी। इससे बचने का एक-मात्र उपाय यह है कि शासन-कार्य से जनता को जानकारी करा दी जाय, उसे शासन-कार्य में भाग लेने दिया जाय। पर इसमें 'डिक्टेटरशिप' का अस्तित्व बाधक होगा।

और भी कठिनाइयाँ हैं। यह भी स्पष्ट नहीं है कि पूँजीवाद और साम्यवाद के बीच में जो परिवर्तन-काल होगा, उसमें साम्यवाद की स्थापना के लिये अनुकूल वातावरण बन जायगा। रूस में आज क्या हो रहा है? छोटे व्यापारी हैं, अच्छे कारीगरों को अधिक वेतन मिलता है, कृषक अपनी भूमि जोतते-बोते हैं, इससे अनेक वर्ग क़ायम हो गये हैं। क्या इनका प्रभाव साम्यवाद के विकास के मार्ग में बाधक नहीं होगा? साथ ही हमें यह भी ध्यान रखना चाहिए कि आजकल वहाँ समानता और स्वाधीनता का अभाव है। साम्यवादी यह भले ही कह दें कि इस अभाव का कारण यह है कि जनता ने आँख बन्द करके वर्तमान शासकों की आज्ञा का पालन करना शुरू कर दिया है, पर इस परिवर्तन-काल में जनता इसके सिवा कर ही क्या सकती है कि या तो 'डिक्टेटरशिप' की आज्ञा का पालन करे, या उसके हाथों कष्ट पावे। यह दोनों दशाएँ ऐसी हैं कि जिनमें स्वाधीनता के भाव उन्नति नहीं कर सकते। और यदि यह कहा जाय कि साम्यवादियों का शासन सब के हितों को दृष्टि में रखता है, तो यह बात तो तभी निश्चित रूप से स्वीकार की जा सकती है, जब सब इस बात का समर्थन करें। यह असम्भव है; क्योंकि 'डिक्टेटरशिप' का अस्तित्व ही

इसलिए है, कि अपने से विरुद्ध विचार रखनेवालों का दमन करे। वह तो केवल उन विचारों का समर्थक है, जो उसकी सम्मति में जनता को अपनाने चाहियें। उसे इस बात से कोई मतलब नहीं कि जनता के अपने विचार क्या हैं। ऐतिहासिक अनुभव से यह सिद्ध होगया है कि ऐसे वातावरण में रहकर मनुष्य का हृदय उच्च नहीं हो सकता। साथ ही यह बात भी है कि यदि हम अच्छी-से-अच्छी नीयत से भी इस बात का प्रतत्न करें कि लोगों के मन में किसी विशेष प्रकार के भाव भर दें, इसमें हमें सफलता नहीं हो सकती। यह कोई नई बात नहीं है। बहुत-से कानूनों के विषय में यह समय-समय पर कहा जा चुका है कि वह इतने हितकर हैं कि उन्हें कभी भी रद्द नहीं करना चाहिये। जिनेवा में कॉलविन और प्रेग में जिसूद इसी भ्रम के शिकार थे, और उनका इतिहास सचमुच एक चेतावनी है।

साम्यवादियों ने अपने ध्येय की जो व्याख्या की है, वह भी बहुत स्पष्ट नहीं है। यह विचारने योग्य बात है कि एक ऐसी व्यवस्था, जिसमें वह सब कुरीतियाँ उपस्थित हैं, जिनसे समाज मुक्त होना चाहता है, किस प्रकार इन कुरीतियों को मिटाकर एकदम दूर कर देंगी। यह भी सरलता से समझ में नहीं आ सकता कि पूँजीवाद के नष्ट हो जाने से समाज से श्रेणियाँ मिट जायँगी। ऐसा भी सम्भव है कि दो श्रेणियाँ हो जायें; एक तो साम्यवाद के नेता, दूसरी जनता। इनमें एक श्रेणी यह चाहे कि काम के घण्टे और मज़दूरी घटा दी जाय, और दूसरी श्रेणी इनके

बढ़ाने के पक्ष में हो। मार्क्स और लेनिन की 'यह बात ठीक है कि उत्पादन की नई व्यवस्था से नई मनोवृत्तियों का जन्म होगा। पर यह नहीं कहा जा सकता कि यह मनोवृत्तियाँ साम्यवाद के अनुकूल होंगी। इसके वास्तविक रूप का तो अनुमान ही से पता लगेगा; अभी तो यह कल्पना-मात्र हैं।

साम्यवादी-समाज का मुख्य उद्देश्य होगा-"अपनी योग्यता के अनुसार हर कोई काम करे और अपनी आवश्यकता के अनुसार ले।" देखने मे यह बात उचित मालूम होती है, पर विचार करने से इसका अर्थ समझ में नहीं आता। दिमाग़ी क्षेत्र में शक्ति को नापना असम्भव है। आवश्यकता का क्या अर्थ लगाया जाय, यह समझ में नहीं आता; क्योंकि एक माने में सब मनुष्यों की आवश्यकताएँ समान हैं, और इनकी यथा-समय पूर्ति करना समाज का मुख्य कर्तव्य होगा। वास्तव में हमारे पास शक्ति और आवश्यकता की एक कसौटी होनी चाहिये, और इसके लिये एक औसत कायम करने की आवश्यकता है। औसत को क़ायम करने का फल यह होगा कि व्यक्तिगत अन्तर की विवेचना नहीं हो सकेगी, और वास्तव में साम्यवादी इस प्रकार की विवेचना का पक्षपाती है।

बहुत-से साम्यवादी लेखकों के विचारों से प्रतीत होता है कि राजनीति को उन्होंने बहुत ही सरल समझ लिया है। संस्थाओं का रूप उन्होंने इस प्रकार चित्रित किया है, जिसमें वह साधारण बुद्धिवाले की समझ में आजायँ। पर उन्होंने इसकी

जटिलता की ओर ध्यान नहीं दिया और इस विश्वास के आधार पर अपना मत स्थापित किया है कि साधारण जनता सामान्यतः समाज की उन्नति और विकास-विषयक बातों को जानने की बहुत इच्छुक रहती है। यह ज़ाहिर है कि काम बाँटने और पदाधिकार को यदि क़ायम रक्खा जायगा, तो सरलता से काम नहीं चलेगा। यदि यह कहा जाय कि बिजली के उत्पादन करनेवाले कारख़ानों को राष्ट्राधीन कर दिया जाय; क्योंकि ऐसे महत्व की चीज़ का किसी व्यक्ति-विशेष के हाथ में रहना ठीक नहीं है, तो इस बात को यदि जनता साधारण रूप से शिक्षित होगी, तो उचित स्वीकार कर लेगी। पर ऐसा कहना कि साधारण जानकारी का कोई भी व्यक्ति बिना गम्भीर विवेचना किये हुये यह निश्चय कर सकता है कि राष्ट्राधीन करने की कौन-सी व्यवस्था इसके लिये उपयुक्त होगी, ठीक नहीं प्रतीत होता। और हर प्रकार के समाज में ऐसे व्यक्ति कम मिलेंगे, जो इस विवेचना के कार्य को करने के लिये उद्यत हों। मनुष्य की प्रकृति का झुकाव राजनीति की ओर नहीं होता। उसे फल की विशेष चिन्ता रहती है; किन साधनों से इच्छित फल प्राप्त होगा, इसकी चिन्ता नहीं रहती। जब कभी वह साधनों की ओर ध्यान देता है, तो इसलिये कि इच्छित फल नहीं प्राप्त होसका। संस्थापक-उन्नति के कारण अवश्य ही उसकी इस ओर दिलचस्पी बढ़ जाती है। पर केवल दिलचस्पी पैदा होजाने में और राजनैतिक विकास की गति को ध्यानपूर्वक मनन करने में बड़ा अन्तर है।

साम्यवादियों का यह कहना, कि प्रतिनिधि शासन-पद्धति में न्याय हो ही नहीं सकता, बहुत-कुछ सत्य है। ऐतिहासिक सत्य का ध्यान रखते हुए कोई भी यह सिद्ध करने की चेष्टा नहीं करेगा, कि उसकी अनुपयुक्तता अनिवार्य है। पर इस बात को हमें उस समय तक बिल्कुल असम्भव नहीं समझ लेना चाहिये, जब तक हम इसकी पूरी-पूरी जाँच न कर लें। ऐसी सत्ता के स्थान पर साम्यवाद स्थापित करने की चेष्टा के विषय में इतना तो अवश्य कहा जा सकता है, कि बहुत अधिक और बहुत समय तक रक्त-पात होगा, सफलता प्राप्त करने में बड़ी कठिनाई होगी, और यदि सफलता प्राप्त न हुई, तो उसका भयङ्कर दुष्परिणाम होगा। व्यवस्थापक शासन-पद्धति के पक्ष में इतना स्वीकार कर लेना न्याय-सङ्गत है कि उसमें कुछ अच्छी बातें भी हैं। उसने जो हक़ क़ायम किये हैं, उनमें अभी बड़ी न्यूनता है। साम्यवादियों ने उसके इस दोष पर बहुत ज़ोर दिया है। पर इससे यह परिणाम नहीं निकलता कि जब तक सब युक्तिपूर्ण उपायों का उपयोग न कर लिया जाय, हिंसात्मक उपायों का अवलम्बन किया जाय। ऐसा करने से स्वाधीनता, समानता और न्याय की कोई सेवा नहीं होती। इसका मतलब यह है, कि सब शक्तियाँ कुछ व्यक्तियों के अधिकार में दे दी जायँ, जो चाहे जितने सज्जन और उदार क्यों न हों, पर घटनाओं पर शासन नहीं कर सकते। रक्त-पात और युद्ध के आश्रय से मनोवृत्ति का परिवर्तन कर देना कि जिसमें न्याय के प्रति श्रद्धा उत्पन्न होजाय, ठीक नहीं जँचता।

जब रोम पर असभ्य जातियों ने आक्रमण किया, उसके फल-स्वरूप वहाँ की दशा में उन्नति नहीं हुई थी। वहाँ अन्धकार का साम्राज्य होगया। जर्मनी में ३० वर्ष के दीर्घकालीन युद्ध के कारण सब रचनात्मक कार्य १६ वीं शताब्दि तक स्थगित रहा। १६१४ में चारों ओर ऊँचे आदर्शों के प्रति बहुत उत्साह विद्यमान था, पर जिस समय प्रलयकारी युद्ध ने मनुष्यों की पाशविक प्रवृत्तियाँ जाग्रत् कर दीं, तो उस समय आदर्श और सुधार का किसी को ध्यान तक नहीं रह गया। इसीलिये यह दावा ठीक नहीं मालूम होता कि हिंसात्मक उपायों के द्वारा न्यायप्रियता उत्पन्न हो सकती है। एक अन्याय को दूर करने के लिए दूसरे अन्याय का आश्रय लेना तब तक उचित नहीं है, जब तक हम अपनी सभ्यता से बिल्कुल निराश न हो जायँ।

साम्यवादियों ने होनेवाले संघर्ष के विषय में जो भविष्यवाणी की है, उसका घटित होना बहुत-कुछ सम्भव है। जिन कुरीतियों के कारण यह संघर्ष अनिवार्य समझ लिया गया है, वह कुरीतियाँ वास्तविक हैं, और यदि और किसी उपाय से उन्हें न दूर कर दिया गया, तो आर्थिक युद्ध अवश्य होगा। हर प्रकार की समाज-व्यवस्था के विकास में एक ऐसा समय आ जाता है, जब जनता कुछ कुरीतियों को आगे न सहन करने पर कटिबद्ध हो जाती है; और ऐसे समय में यदि उन कुरीतियों को मिटाने या कम करने का कोई और उपाय नहीं किया जाता है, तो वह उस व्यवस्था को नष्ट करने पर उद्यत होजाती है। इस विपत्ति से

बचने का केवल यही उपाय है, कि सरकार स्वाधीनता की मात्रा बढ़ाकर जनता का असन्तोष कम कर दे। इस उपाय का प्रयोग करना सरल नहीं है। मनुष्य सदा यह चाहता है, कि दूसरों को भले ही हानि हो, पर मेरी इच्छाओं की पूर्ति में कोई बाधा न पड़े। समानता की सच्चे हृदय से इच्छा करना विरलों का ही काम है, और लालच की मनोवृत्ति को दमन न कर सकने के कारण समाज-पद्धतियाँ नाश को प्राप्त हो जाती हैं। शायद हमें भी ऐसा ही अनुभव करना पड़े। यदि ऐसा होगा, तो इसमें न तो साम्यवादियों का ही दोष होगा, और न जनता का। साम्य-वाद ने वर्तमान शासकों को चेतावनी दे दी है, कि सुधारों-द्वारा जनता का बढ़ता हुआ असन्तोष रोका जा सकता है। इस ओर ध्यान देने से उग्र विचारवालों को एक प्रकार से विवश करना है कि वह अपना आन्दोलन जारी रक्खें, और जनता को बाधित करना है कि वह उनकी बात माने। साम्यवादियों का राष्ट्र-विषयक सिद्धान्त जिन उद्देश्यों पर निर्धारित है, उनकी प्राप्ति के लिए साम्यवाद ने जो उपाय निश्चित किये, उनके अतिरिक्त वे दूसरे उपायों से भी प्राप्त किये जा सकते हैं। इसके लिए उदार-हृदय और कठिन परिश्रम की आवश्यकता है; और अब विलम्ब भी नहीं करना चाहिए; नहीं तो समय निकल जायगा।

❀ ❀ ❀

पाँचवाँ अध्याय

१

सामाजिक सङ्गठन की वर्तमान शैली का परिणाम साम्यवाद के मत में केवल एक ही हो सकता है, और वह है—श्रेणी-युद्ध। इसलिए उसके अपने आन्दोलन के कार्य-क्रम का उद्देश्य इस परिणाम पर शीघ्र पहुँचना है। इसके कार्य-क्रम के आधारभूत सिद्धान्त की दृष्टि से और संस्थाओं को देखने से प्रतीत होता है कि साम्यवाद का ध्येय यह है कि सारे संसार में इस युद्ध की आग फैल जाय। चूँकि पूँजीवाद सारे संसार में फैला हुआ है, इसलिये इसके विरुद्ध क्रान्ति भी संसारव्यापी होनी चाहिये।

साम्यवाद को ऐसी आशा नहीं है कि क्रान्ति हर जगह एक ही समय हो सकती है, या यह कि हर जगह उसका रूप एक ही-सा होगा। एक जगह उसका कारण यह हो सकता है कि

संगठित मज़दूर-दल पूँजीपतियों के अधिकारों में ऐसा भाग चाहे, जिसे पूँजीवादी न दे सकें। दूसरी जगह इसका कारण यह हो सकता है कि मज़दूरी में एकदम बहुत कमी कर दी जाय, और फल-स्वरूप मज़दूर बिगड़ उठें। तीसरी जगह इस कारण से कि सरकार साम्राज्यवादी युद्ध में भाग लेना चाहती हो, और जनता इसका विरोध करे। चौथी जगह इसका कारण वह हो सकता है, जो रूस में हुआ था। सारांश यह है कि धीरे-धीरे पूँजीवाद की प्रतिमा विलुप्त हो रही है और उसके पतन में ऐसी बहुत-सी स्थितियाँ उपस्थित होती रहेंगी, जो क्रान्ति के लिए अनुकूल हों। अन्त में पूँजीवाद का अवश्य नाश हो जायगा।

इस स्थिति को देखते हुए साम्यवाद को अपनी क्रान्ति का विस्तार संसार-व्यापी करना पड़ेगा। इनकी मुख्य केन्द्रीय संस्था 'तीसरी इन्टर्नेशनल' है, और राष्ट्रीय संस्थायें, जो चारों ओर फैली हुई हैं, वह एक प्रकार से उसकी शाखाएँ हैं। 'तीसरी इन्टर्नेशनल' का कार्य-क्षेत्र विस्तृत है। संसार-भर में इस आन्दोलन के सम्मुख जो भी समस्या उत्पन्न होगी, उसके विषय में इसका निश्चय सर्व-मान्य होगा। जितने भी दल इससे संकलित होंगे, उन्हें इसके बनाए हुए कार्य-क्रम के अनुसार संचालन करना पड़ेगा। पूँजीवादी-संसार में साम्यवादियों को किन नियमों का पालन करना चाहिये, उनके विषय में इसने कुछ मूल सिद्धान्त निश्चित कर दिये हैं; किन उपायों से पूँजीवाद का महत्व

नष्ट किया जाय, इस बात को यह निश्चित करती रहती हैं। आन्दोलन का कार्य भी यह करती हैं। साम्यवादियों की सफलता के लिये मार्ग साफ़ करना, साहित्य का प्रकाशन और प्रचार करना, कार्यकर्त्ताओं को आवश्यक शिक्षा देकर तय्यार करना और अधिक व्यवस्थित रूप में उनका उपयोग करना—यह भी इसका कर्त्तव्य है। एक बात की ओर इसे विशेष ध्यान देना पड़ता है। इसकी भिन्न-भिन्न शाखाओं का केन्द्रीय संस्था से, और उन में परस्पर भी, पूरा सहयोग और सम्बन्ध क़ायम रहे, तथा हर शाखा को पूरे संगठन से सहायता मिलती रहे;-क्योंकि यदि ऐसा न होगा तो केवल अपनी शक्ति पर निर्भर रहकर एक शाखा उतना उपयोगी कार्य नहीं कर सकती, जितना कि पूरे संगठन का सहयोग पाने पर। 'इन्टर्नेशनल' का महत्व इसलिए भी बहुत बढ़ जाता है कि वह अपनी शाखाओं को आर्थिक सहायता भी देती है। वह इसकी भी पूरी देख-भाल करती रहती है कि उसके किसी भी विभाग में परस्पर विरोधी मत न उत्पन्न होने पावें; क्योंकि ऐसा होने से उसकी शक्ति का ह्रास हो जायगा।

जिस समय से इस का जन्म हुआ है, 'तीसरी इन्टर्नेशनल' 'मॉस्को' में ही क़ायम है। यदि उसकी स्थापना कहीं और होती तो पूँजीवाद उसके मार्ग में बहुत बाधाएँ उपस्थित करने में कृतकार्य हो जाता। उसके उद्देश्य उसकी धाराओं से स्पष्ट रूप से प्रकट होते हैं। इस विषय में उन्होंने साफ़ कहा है, "सब देशों के मज़दूरों को संगठित करके पूँजीवाद का मूलोच्छेद कर

दिया जाय, श्रमजीवी-दल की 'डिक्टेटरशिप' और 'अन्तर्राष्ट्रीय सोवियट प्रजातन्त्र' की स्थापना कर दी जाय, समाज में श्रेणी-वाद का अस्तित्व नष्ट कर दिया जाय, और साम्यवाद की ओर अग्रसर होने के लिए आरम्भिक कार्य का, जो वर्गवाद की स्थापना है, सम्पादन किया जाय। उसकी सर्व-प्रधान संस्था 'विश्व-कांग्रेस' है। इस महासभा की बैठक वर्ष में एक बार होती है, और इस के अतिरिक्त जब कभी या तो कार्यकारिणी की इच्छा हो या कम-से-कम 'संकलित' सभासदों की आधी संख्या की इच्छा हो, तब भी हो सकती है। 'विश्व-कांग्रेस' में सभासद होने का कोई निश्चित नियम नहीं है। पूँजीवादी देशों में साम्य-वादी दलों की ऐसी स्थिति नहीं है कि रूस से सम्बन्ध रखने के लिए वह अपना संगठन ठीक ढंग का बना सकें। इसलिए इस विषय में 'इन्टर्नेशनल' ने यह निश्चित कर दिया है कि 'कांग्रेस' के निश्चय अनुसार हर देश को इतना मताधिकार दे दिया जाय, जो उस की वास्तविक शक्ति और राजनैतिक महत्व के लिए उचित हो। 'कांग्रेस' को यह अधिकार भी है कि वह 'इन्टर्नेश-नल' के प्रधान का निर्वाचन करे, 'कार्यकारिणी सभा' का निर्वा-चन करे और एक विशेष संस्था, जो राजनैतिक नहीं है, अन्त-र्राष्ट्रीय-प्रबन्ध-परिषद् का निर्वाचन करे।

'इन्टर्नेशनल' में भर्ती होने की शर्तें कुछ कठोर हैं। हर संकलित संस्था को अपने को साम्यवादी कहना पड़ेगा और एक देश मे केवल एक ही संस्था सभासद् बन सकती है। जो संस्था

भी सभासद होना चाहेगी, उसे 'इन्टर्नैशनल' का कार्यक्रम और नियम स्वीकार करने पड़ेंगे, और इस बात के लिये तय्यार रहना पड़ेगा कि इस दल और 'इन्टर्नैशनल' की आज्ञाओं का पालन करे। दलों के सभासदों को अपने संगठित समूह के साथ सहयोग करना पड़ेगा। जैसे कारख़ानों में काम करनेवाले; कानों में काम करनेवाले-इत्यादि। जब तक किसी निश्चय पर न पहुँच जाय, विवाद करने की पूर्ण स्वतन्त्रता है, पर निश्चय पर पहुँच जाने के बाद सब इसे स्वीकार करने को बाध्य हैं।

इन्टर्नैशनल की रचना प्रजातन्त्रवादी केन्द्रीयता के आधार पर हुई है, जिसका आगे उल्लेख किया जायगा। 'विश्व-कांग्रेस' एक इतनी विस्तृत संस्था है, और इतने दिनों में इसकी बैठक होती है कि उसके द्वारा उचित नेतृत्व प्रायः असम्भव है। उसमें विचार-विमर्श होता है, और प्रस्ताव पास पोते हैं! उसके पास कार्यकारिणि से संकलित सभासदों के पास से कैफ़ियत भी आती हैं। उसकी कार्यप्रणाली इँगलैण्ड की 'ट्रेड यूनियन कांग्रेस' से मिलती-जुलती है। वह अपने प्रस्ताव द्वारा वह मार्ग निश्चित कर देती है, जिसके अनुसार कार्य होना चाहिये। इसके सम्पादन के लिये उसे अपने निर्वाचित कार्य-कर्ताओं पर निर्भर रहना पड़ता है। बहुत-सी 'कैफ़ियतें', जो उसके पास आतीं हैं, वह इतनी विस्तृत होती हैं, कि एक बड़ी सभा में उन पर गम्भीरता-पूर्वक विचार करना असम्भव है, और जिन प्रस्तावों को वह स्वीकार करती है, वह भी कुछ मूल सिद्धान्तों का समर्थन करते

हैं, और उनकी उपयोगिता इस पर निर्भर रहती है कि किस प्रकार उन्हें लागू किया जाय। कांग्रेस से कार्यकारिणी को यह पता लग जाता है कि विचार-धारा किस ओर बह रही है। वास्तव में एक व्यवस्थापक-सभा इस बात का प्रबन्ध नहीं कर सकती कि यह भी देखती रहे कि उस मार्ग का अनुसरण ठीक प्रकार हो रहा है, अथवा नहीं।

इसलिये असली नेतृत्व कार्यकारिणी सभा के हाथ में है। यह घटती-बढ़ती रहती है, पर इनमें लगभग ४१ सभासद होते हैं। बाहरी संसार को यह प्रतीत होता है कि इस सभा में सब रूसी हैं, पर वास्तव में इसमें केवल ५ रूसी हैं, और बाकी दूसरे देशों के प्रतिनिधि हैं। यदि इसमें रूसियों की प्रधानता प्रतीत होती है, तो उसका कारण यह है कि रूसियों को विशेष अनुभव है और रूसियों की सम्मति को दूसरे लोग बड़े आदर की दृष्टि से देखते हैं। कांग्रेसों की बैठकों के बीच के समय में कार्यकारिणी कम्यूनिस्ट इन्टर्नेशनल का संचालन करती है। संकलित संस्थाएँ उसकी आज्ञा मानने को बाध्य हैं। वह 'कांग्रेस' की 'अपील' कर सकते हैं। पर ऐसा करने पर भी उन्हें कार्यकारिणी के बतलाए हुए मार्ग पर चलते रहना पड़ेगा।

यदि कोई टुकड़ी अपने आचरण के द्वारा कार्यक्रम या कांग्रेस के निश्चय का विरोध करे तो कार्यकारिणी को अधिकार है, कि उसे 'इन्टर्नेशनल' से पृथक् कर दे। बाद में वह कांग्रेस से अपील कर सकते हैं। उसे यह अधिकार भी है कि

संकलित संस्थाओं के कार्यक्रम को स्वीकार करे। इसमें भी काँग्रेस से अपील हो सकती है। संकलित संस्थाएँ उसके निश्चय और दूसरी कार्यवाहियों को अपने समाचार-पत्रों प्रकाशित करने को बाध्य हैं। अपने मत की व्याख्या करने के लिए यह स्थानीय साम्यवादी संस्थाओं के पास अपने प्रतिनिधि भेज सकती है, और यह लोग किसी भी प्रश्न पर अपना निश्चय प्रकट कर सकते हैं और इस निश्चय को वह संस्था, विरुद्ध विचार करने पर भी, स्वीकार करने को बाध्य हैं। कार्यकारिणी की बैठक मास में एक बार होती है। किसी आवश्यक प्रश्न के उपस्थित होने पर यह अपनी विशेष बैठक वर्ष में दो बार कर सकती है, और इसमें संकलित संस्थाओं के प्रतिनिधि भी भाग ले सकते हैं।

एक कमेटी, जिसके ४९ सभासद हों, तफ़सील के लिए बहुत बड़ी है। वह केवल विचार करके सम्मति स्थिर कर सकती है और ऐसे व्यक्तियों का निर्वाचन कर सकती है, जिनके सुपुर्द वह इन्टर्नेशनल के लिए लेख-आदि लिखने का कार्य कर सके। एक कार्य में, जिसका इतना विस्तृत क्षेत्र है, और जिसमें सफलता के लिए यह आवश्यक है कि छोटी-से-छोटी बात को भी अच्छी तरह विचारा जाय, यह अनिवार्य है कि प्रबन्ध-कार्य थोड़े-से व्यक्तियों के सुपुर्द किया जाय। इसलिए कार्यकारिणी के दो भाग होते हैं। एक भाग का मुख्य कार्यकर्ता प्रधान होता है, इसके सभासद विशेष ध्यान से निर्वाचित होते हैं, और यह

कार्यकारिणी की बैठकों के बीच के समय में अन्तर्राष्ट्रीय आन्दोलन का संचालन करता है।

संगठन और आर्थिक प्रश्नों का निबटारा संस्था का 'ब्यूरो' करता है, और इसके फ़ैसलों की अपील केवल प्रधान से हो सकती है। कार्यकारिणी मंत्री का निर्वाचन भी कर लेती है, और यह अपने सहकारियों के साथ संगठन के 'ब्यूरो' का अंग होता है। इन्हीं के अन्तर्गत कुछ विशेष विभाग होते हैं। स्त्री-सम्बन्धी प्रश्नों के लिए कार्यकारिणी एक विशेष अन्तर्राष्ट्रीय 'मंत्रि-मण्डल' स्थापित कर देती है; भिन्न-भिन्न कार्यों के निमित्त इसके भिन्न विभाग होते हैं;—जैसे एक विभाग ख़बरों के लिए है, एक आन्दोलन-कार्य के लिए है, एक संगठन और पूर्वीय प्रश्न के लिए,-आदि। इसे आवश्यकता प्रतीत होने पर यह भी अधिकार है कि नये विभाग बना ले।

साम्यवादी 'इन्टर्नेशनल' बनावट में अंग्रेज़ी संस्थाओं से मिलता-जुलता है। 'विश्व-कांग्रेस' की समता 'हाउस ऑफ़ कॉमन्स' से की जा सकती है। इसमें बहुमत-अधिकार के आधार पर कार्य होता है; पर वास्तव में, कुछ विशेष परिस्थितियों को छोड़कर, इसे एक समिति पर निर्भर रहना पड़ता है, जो नाम-मात्र के लिए इसके प्रति उत्तरदायी है। कार्यकारिणी मंत्रि-मण्डल के समान है। देखने में यह कांग्रेस की आज्ञाओं का पालन करती है;—जैसे मंत्रि-मण्डल और हाउस ऑफ़ कॉमन्स को।—पर वास्तव में अपने उत्कृष्ट संगठन और संचालन-शक्ति के कारण यह स्वयं

ही कार्य का संचालन करती है। 'प्रेसीडियम' आन्तरिक मंत्रि-मण्डल के समान है। इसके सभासद, अपने पद के कारण तो कम, पर अपने अनुभव और योग्यता के कारण विशेषकर, दूसरों का उचित मार्ग पर संचालन करते हैं। संगठन का 'ब्यूरो' अपने मंत्रि-मण्डल की शाखाओं के सहित 'कैबिनेट', सेक्रेटेरियट और 'ट्रेज़री' के सम्मिलित रूप के समान है।

कांग्रेस एक 'इन्टर्नेशनल कमीशन ऑफ़ कन्ट्रोल' का भी निर्वाचन करती है। इसके सुपुर्द चार काम हैं। कार्यकारिणी के विभागों के विरुद्ध शिकायतों की जाँच करना, और इन्हें मिटाने के लिए कार्यकारिणी को उपाय बतलाना, ऐसे व्यक्तियों या संस्थाओं की शिकायत पर विचार करना, जिनके विरुद्ध दण्ड-योजना की गई है, और उनके विषय में कार्यकारिणी को परामर्श देना, कार्यकारिणी के व्यय का प्रबन्ध करना, कार्यकारिणी का आदेश पाने पर 'इन्टर्नेशनल' की संकलित संस्थाओं के व्यय पर दृष्टि रखना। इस 'कमीशन' को यह अधिकार नहीं है कि कार्यकारिणी के किसी भीतरी मामले में या कार्यकारिणी और किसी संकलित दल के बीच में मतभेद में हस्तक्षेप करे। इसका काम इतना ही है कि निर्धारित सीमा के अन्तर्गत झगड़ों की जाँच करे, और उनके विषय में अपनी सम्मति प्रकट करे, और हिसाब की जाँच करे। इसको कार्यकारिणी के अधिकार में रहकर काम करना पड़ता है। हाँ, अपनी योजनाओं-द्वारा इसकी पहुँच 'कांग्रेस' तक हो जाती है।

'इन्टर्नेशनल' का संगठन उसके निर्धारित कार्य के लिये उपयुक्त है। वह दूसरे इन्टर्नेशनल की अपेक्षा बहुत सुसंगठित और सुव्यवस्थित है। दूसरा 'इन्टर्नेशनल' तो केवल मात्र कांग्रेस है, उसमें मन्त्रि-मण्डल नहीं है; प्रस्तावों को कार्य-रूप में परिणित करने के लिए उसे राष्ट्रीय दलों का, जो परस्पर भी अच्छे प्रकार सम्बद्ध नहीं हैं, मुँह देखना पड़ता है। वह निश्चयात्मक कार्य नहीं कर सकती; वह तो केवल एक प्रस्ताव पास कर देने-वाली सभा है। १९१४ के महायुद्ध के समय वह अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए सर्वथा असमर्थ थी, और यदि फिर युद्ध छिड़ जाय, तो वह फिर भी कुछ करने की क्षमता नहीं रखती। 'साम्यवादी इन्टर्नेशल' परामर्श के लिए तो एक संघ के समान है, और कार्यशीलता के लिए एक केन्द्रीय संस्था है। वह अपने कार्यकर्ताओं के द्वारा अपने से संकलित सब संस्थाओं के विचारों में और कार्यों में समानता रखती है। कारख़ाने में, स्थानीय शासन-दल में, व्यवस्थापक सभा में, चाहे जिस जगह भी साम्यवादी हों, उसका कर्तव्य कुल दल की आवश्यकताओं को दृष्टि में रखते हुए निश्चित हो चुका है। संगठन इस प्रकार किया गया है कि हर प्रश्न पर निश्चय और उस निश्चय पर क्रियाशीलता पूरे संगठन के हित को दृष्टि में रख-कर होगी। एक संगठित व्यवस्था के रूप में 'साम्यवादी इन्टर्-नेशनल' की तुलना 'रोमन कैथलिक चर्च' से की जा सकती है। निश्चय पर पहुँचने से पहिले दोनों संस्थाओं में वोट

वाद-विवाद की स्वाधीनता है, और निश्चय को स्वीकार करने में तनिक भी आनाकानी करनेवालों को दोनों जगह एकदम पृथक् कर दिया जाता है। 'रूथ फिशर' और जर्मनी के उग्र विचारवाले साम्यवादियों का बहिष्कार और नये विचारवालों के साथ कैथलिक धर्म का व्यवहार मिलते-जुलते हुए हैं। फ़तवा निश्चित होने के उपरान्त विरोध होता है, या अन्त हो जाता है, दण्ड देने से पहिले बड़ी व्यापक जाँच होती है, और प्रमाण देखे जाते हैं, और दोष सिद्ध हो जाने पर दोषी को पश्चात्ताप और कर्तव्य-पालन का अवसर दिया जाता है। जब वह किसी प्रकार नहीं मानता, तो दण्ड कठोरता से दिया जाता है; इससे पहिले उसकी सेवाएँ चाहे जितनी मूल्यवान् सिद्ध हुई हों।

इस कार्यक्रम में विचार करने पर दो दुर्बलताएँ प्रतीत होती हैं। इसमें एक तो सख़्ती बहुत है। इसमें शक नहीं कि कार्य-कारिणी के पास लिखित और मौखिक दोनों प्रकार की कैफ़ियत यथेष्ट रूप में आती हैं, पर वह इतने विस्तृत क्षेत्र के लिए यथा-समय अपनी आज्ञाएँ नहीं निकाल सकती। भिन्न-भिन्न देश-वालों के राष्ट्रीयता के भाव, राष्ट्रीय संस्थाओं के साथ संघर्ष, और बहुत-सी छोटी-छोटी बातों पर विरोध के कारण स्थिति में जटिलता आ जाती है, और 'इन्टर्नेशनल' को धोखे में डाल देती है; साथ ही 'इन्टर्नेशनल' की चेष्टा सदा यह रहती है कि परि-स्थितियों में मार्क्स के बतलाए हुए चिन्हों की खोज करे और

इसलिए जिन उपायों का वह उपयोग करती है, वह स्थिति के ठीक ज्ञान पर निर्भर नहीं होते। केन्द्रीयता के कारण इस प्रकार की खराबी, जैसी सितम्बर १९२६ में 'ब्रिटिश ट्रेड-यूनियन' को ट्रॉट्स्की के पत्र के फल-स्वरूप हुई थी, उत्पन्न होना अनिवार्य है। दूसरी दुर्बलता यह है कि 'इन्टर्नेशनल' अपने को एक विशेष प्रकार की व्यवस्था का पोषक समझती है, जिससे किसी को ज़रा पृथक् होने की आज्ञा नहीं है। १९२० में 'ब्रिटिश स्वाधीन लेबर दल' ने समझौता करने के विषय में 'इन्टर्नेशनल' को लिखा था। 'इन्टर्नेशनल' ने उन्हें कोरा जवाब दे दिया, जिससे यह प्रकट है कि वह आँख बन्द करके कट्टरता का समर्थन करना चाहता है; उससे शक्ति का चाहे-जितना अधिक ह्रास हो जाय। रूस का वातावरण ऐसा है, जिसमें 'इन्टर्नेशनल' के बहुत-से नियमों का औचित्य सब पर विदित हो जाता है, पर दूसरे देश-वालों को इनमें कुछ बातें भ्रमपूर्ण विदित होती हैं, और केवल इस कारण कि 'इन्टर्नेशनल' की ऐसी आज्ञा है, वह उन पर कार्य करने में अपने को असमर्थ पाते हैं। 'दूसरे' और 'तीसरे' 'इन्टर्नेशनल' में १९२२ में इस उद्देश्य से विचार-विमर्श हुआ था कि सम्भव हो, तो दोनों संस्थाओं में सहयोग स्थापित कर दिया जाय। इस अवसर पर 'तीसरे इन्टर्नेशनल' ने जो विचार प्रकट किये थे, उनसे विदित है कि उसने इस बात की तनिक भी चेष्टा नहीं की, कि 'उदारदलीय सोशलिस्टों' के दृष्टि-कोण की ओर सहानुभूति का व्यवहार करे। इन लोगों की इस मामले में

हालत ऐसी ही थी, जैसा 'रोमन चर्च' का 'एँग्लिकन्स' की ओर रहती है—अपनी सब बातें दूसरे से स्वीकार कराना चाहते हैं, और दूसरे की एक बात भी मानने को तैयार नहीं हैं। वह काम छोड़ने को तो उद्यत थे, पर समझौता करने को नहीं; हालाँकि यह सभा समझौते के निमित्त ही की गई थी।

साम्यवादियों की इस ग़लती का कारण मनोवैज्ञानिक है। इसकी ऐसी धारणा प्रतीत होती है कि जो इसके निश्चित मार्ग से तनिक भी नहीं हटना चाहता है। वह या तो भीरु है, या क्रूर। वह ऐसी संस्थाओं में, जो समान नहीं हैं, समान ही उपायों का उपयोग करना चाहते हैं। वह इस धारणा पर काम करते हैं कि विशेष परिस्थितियों का सामना करने के लिये विशेष उपायों का उपयोग करने के बजाय वह उन परिस्थियों के रूप की कल्पना ऐसी करते हैं, मानो वह उनकी सोची हुई परिस्थितियों के समान हैं। भारतवर्ष की समस्या को मार्क्स के विचारों के आधार पर समझने की चेष्टा करना कल्पना-शक्ति को भले ही प्रखर बनावे, पर साम्यवादी विचारों की वास्तविक उन्नति का कारण कभी नहीं हो सकता। साम्यवादी 'सोशल-प्रजातन्त्रवाद' के ऐसे नेताओं को, जिनके साम्यवादी विचार नहीं हैं, स्वार्थी और सिद्धान्तहीन समझते हैं, पर जो लोग इन नेताओं को भली प्रकार जानते हैं, कभी यह स्वीकार नहीं कर सकते। साम्यवादियों की केन्द्रीयता की चाट दङ्गा करा देने के लिये बहुत उपयुक्त है। पर अवसर के अनुसार कार्य करने की चेष्टा के अभाव के कारण उसके द्वारा

सफल क्रान्ति का होना बहुत कठिन है। उसका आधार बहुत संकीर्ण है, उसके सिद्धान्त बड़े कड़े हैं। इसलिये वह एक विश्व-आन्दोलन के लिये उपयुक्त नहीं हैं।

इसमें शक नहीं कि इसके अनुयायी 'कम्यूनिस्ट इण्टर्नैशनल' पर पूर्ण श्रद्धा रखते हैं। जिस देश में भी इसके अनुयाइयों ने कार्य किया है, वहाँ उन्होंने असीम साहस का प्रदर्शन किया है। पर जिस आधार पर उन्हें कार्य करना पड़ता है, वह बहुत संकीर्ण है, और इसलिये यह ऐसे लोगों को, जिन्हें इनके उद्देश्यों सहानुभूति नहीं है, अपने पक्ष में लाने में सफल नहीं होते। ऐसे लोगों की ओर इनका भाव ऐसा नहीं है कि वह इनके साथ कन्धे-से-कन्धा मिलाकर काम कर सकें, और इसके कारण इनके आन्दोलन में काफ़ी शक्ति नहीं आने पाती। दूसरे, 'इण्टर्नैशनल' वालों का नाश करने पर यह तुले हुए हैं। फिर भला वह इनके साथ किस भाँति सहयोग कर सकती है? साधारण 'सोशलिस्ट' साम्यवादियों की दी हुई सहायता को शक की दृष्टि से देखता है। १६२६ के 'ब्रिटिश जनरल स्ट्राइक' में साम्यवादी कोई भाग नहीं ले सके। इनकी सहायता से वंचित रहने के लिए ब्रिटिश नेताओं ने पहले से संकल्प कर लिया था; क्योंकि उन्हें उनके उद्देश्यों से सहानुभूति नहीं थी। पक्षी की आँखों के सामने जाल फैलाने से वह कभी नहीं फँसता। साम्यवादियों को मॉस्को के कठोर नियमों का इतनी तत्परता से पालन करना पड़ता है कि दूसरे सोशलिस्ट ऐसे मामलों में भी उनसे सहयोग नहीं

करते, जिनमें इनके और उनके उद्देश्य समान हों।

इस बात का और भी पुष्ट प्रमाण हमें उन सिद्धान्तों से मिलता है, जिन पर साम्यवादियों का कार्य-क्रम निर्धारित है। उनका यह विश्वास है, कि आजकल पूँजीवाद अपना आधिपत्य क़ायम रखने के लिए सिरतोड़ प्रयत्न कर रहा है। मज़दूरों के हृदय में उसके विरुद्ध भावनाओं ने घर कर लिया है, और मज़-दूरों को जो-कुछ भी उसके प्रति सद्भावना हो सकती थी, उसे उन समस्याओं ने, जो महायुद्ध के परिणाम-स्वरूप उपस्थित होगई है—जैसे पराजित देशों से जुर्माना वसूल करने का प्रश्न मिटा दिया है। पूँजीवाद को यह विदित होगया है, कि पुराने उपायों से अब काम नहीं चल सकता। इस समय वह इस असमञ्जस में पड़ गया है कि क्या करे;—क्रान्तिकारी आन्दोलन को नष्ट करने का उपाय करे या प्रजातन्त्रवाद और साधारण सुधार देकर मज़दूरों को अपने पक्ष में करने की चेष्टा करे और इस प्रकार इस नये उपाय से अपने जीवन के कुछ दिन और बढ़ा ले? इसका एक उपाय तो 'फ़ैसिज़्म' है, और दूसरा उस प्रकार की शासक-शैली है, जैसी मेक्डॉनल्ड की या ब्रैंटिंग की शासन-शैली। पर इन दोनों उपायों का परिणाम पूँजीवाद के लिए दुःखद होगा। 'फ़ैसीज़्म' तो क्रान्तिकारी विचारों को उत्तेजित करता है, और दूसरे उपाय से जनता का यह विश्वास दृढ़ होजाता है कि निर्वाचित प्रतिनिधियों-द्वारा शासन साररहित है। इस प्रकार क्रान्ति का होना अनिवार्य है और इसलिए

साम्यवादियों का यह मत है कि हर देश में इनका दल बहुत शक्तिशाली बन जाय, और पूँजीवादियों की वर्तमान कठिनाइयों से लाभ उठावे। तीसरी 'विश्व-कॉङ्ग्रेस' का इस कारण से आदेश यह है, "श्रमजीवियों के हृदय में साम्यवाद के प्रति दृढ़ विश्वास स्थपित कर दो और इसमें से ऐसे लोगों के द्वारा, जो पीछे हटनेवाले नहीं हैं, युद्ध छेड़ दो," और यही मुख्य उद्देश्य है।

इस समय पूँजीवाद की दशा बहुत अस्थिर है, और इण्टर-नेशनल इस अस्थिरता से लाभ उठाना चाहती है। यदि किसी देश में शासन-शक्ति मज़दूर-दल के हाथ में है, तो वहाँ ऐसी माँगें पेश करनी चाहियें कि जो श्रमजीवियों की इच्छा के अनु-कूल हों, पर जिन्हें पूँजीवादी स्वीकार न कर सकते हों। साथ ही यह यत्न भी करना चाहिये कि पराधीन देशों में जागृति उत्पन्न हो जाय; उपनिवेशों को इसलिए उकसाया जाय कि वह शक्ति-प्रधान देश से पृथक् होने का प्रयत्न करें। अफ्रीका और एशिया के कृष्णवर्णीय निवासियों को इसलिए प्रोत्साहन दिया जाय कि वह गोरी जातियों के स्वार्थ और अर्थ-लोलुपता से अपनी रक्षा करें। ऐसी दशा में जब एक-न-एक स्थान पर कुछ झगड़ा होता रहेगा और क्रान्तिकारियों के साथ भावी युद्ध की सम्भावना बनी रहेगी, तो पूँजीवादी सफलता नहीं पावेंगे। पूँजी-वादियों की कठिनाई के साथ-साथ जनता में असन्तोष की वृद्धि होगी और सुसङ्गठित साम्यवादी दल का यह कर्तव्य है कि इस असन्तोष का उपयोग क्रान्ति को सफल बनाने के लिये करें।

इस विषय में यदि हम मूल सिद्धान्तों के सत्य को स्वीकार कर लें, तो यह मानना पड़ेगा कि 'साम्यवादी इण्टर्नेशनल' की चाल उसके उद्देश्यों की पूर्ति के लिये बहुत ही उपयुक्त है। इनको यदि सफलता मिलने में कठिनाई हो सकती है, तो अमेरिका-जैसे देशों में, जहाँ एक प्रकार से सुख और वैभव की बाढ़ आई हुई है, और इसलिये वहाँ के निवासी अपने वर्तमान सुखों को तिलाञ्जलि देकर अनिश्चित भविष्य की ओर आकर्षित नहीं हो सकते। यह सम्भव है कि ब्रिटेन के बेकार इन बातों से प्रभावित हो जायँ; क्योंकि इनके द्वारा उन्हें अपनी वर्तमान कष्ट-मय परिस्थिति से छूट जाने का निश्चय दिलाया जाता है। ग्रीस में भी इसका प्रचार सहज ही में हो सकता है। वहाँ के राष्ट्र-वादियों की माँगों का एक विस्तृत आन्दोलन में समावेश हो सकता है। अरबी, चीनी और अफ्रीका के हबशी इस समय गोरों के घृणा के पात्र हैं, और नागरिक अधिकारों से वंचित हैं। यह लोग सहज ही में ऐसी बात मान लेंगे, जिसके द्वारा गोरों के अन्याय से बच सकें। जहाँ कहीं भी असन्तोष और अन्याय का अस्तित्व है, वहाँ साम्यवाद की स्वीकृति की बहुत-कुछ सम्भावना है।

इस मत में कुछ कमज़ोरियाँ भी हैं। यह अपने मार्ग में आनेवाली कठिनाइयों को कम महत्त्व देता है, और भावी सफलता को बहुत अधिक। इसकी यह धारणा है कि पूँजीवाद इसके आन्दोलन में बाधा नहीं दे सकता। यह बात अनुभव से ठीक

नहीं सिद्ध होती। इटली, निकट-पूर्व के कुछ स्थल—जैसे बलगेरिया
और रूमानिया में—साम्यवाद के विरुद्ध आन्दोलन-शक्ति
साम्यवाद के आन्दोलन से किसी प्रकार कम नहीं है। दूसरे इसे
यह आशा है कि 'सोशल प्रजातन्त्रवाद' की शक्ति का इसके साथ
सम्बन्ध हो जाना विश्वासात्मक है। अब तक जो-कुछ अनुभव
हुआ है, उससे यह आशा निर्मूल सिद्ध होती है। इस अनुभव
से यह अनुमान होता है कि कुछ समय तक सोशलिज़्म के
सुधारक-दल अपने सिद्धान्त के अनुसार शक्ति पर अधिकार करने
का प्रयास करते रहेंगे। शक्ति-लाभ करने के उपरान्त वह उसका
सदुपयोग कर सकेंगे या नहीं, इस विषय में निश्चित रूप से कुछ
कहा नहीं जा सकता; पर यह बात संशय-रहित है कि जब तक
उनको यह विश्वास न हो जायगा कि अपने सिद्धान्तों का अनु-
सरण करके वह सफलता प्राप्त नहीं कर सकते, तब तक उनकी
मनोवृत्ति का साम्यवादियों के अनुकूल होना असम्भव है।
साम्यवादियों का पूर्वीय देशों में आन्दोलन भी बहुत सफल नहीं
कहा जा सकता है, और यह सम्भव है कि इसके फल-स्वरूप
पूर्व और पश्चिम के सम्बन्ध में खराबी आ जाय, पर केवल
पश्चिम के अधिकार नष्ट हो जाने से साम्यवाद के स्थापित होने
की कोई आशा नहीं है। क्या यह सम्भव है कि कुछ थोड़े-से
पूर्वीय देशों के आदमी, जो मॉस्को का आन्दोलन अपने देशों
में कर रहे हैं, समय आने पर उस प्रकार चीन या भारतवर्ष की
स्थिति को अपने हाथ में ले सकेंगे,—जैसे लेनिन और ट्रॉट्स्की

ने रूस की स्थिति को ले लिया था ?. हाँ, यह स्पष्ट है कि इस आन्दोलन में गड़बड़ फैलेगी। उस गड़बड़ का परिणाम क्या होगा, इसे कौन कह सकता है ? यदि पश्चिमीय देशों में क्रान्ति हो भी जाय, तो उसके फल के विषय में जो आशायें हैं, वह केवल कल्पना पर अवलम्बित हैं, और इसमें जो धन व्यय होगा, उसका ध्यान करने से यह प्रश्न उठता है कि इस विजय का क्या मूल्य रह जायगा। इण्टर्नेशनल का यह कहना ठीक है कि जनता पूँजीवाद के कारण चुपचाप भूखी नहीं मरती रहेगी। पर साथ-सी-साथ वह श्रमजीवी-दल की 'डिक्टेटरशिप' के समय में भी भूखा मरना स्वीकार नहीं करेगी, जब तक कि उसे यह विश्वास न दिला दिया जाय कि साम्यवाद की विजय निश्चित है।

२

साम्यवाद को विश्व-व्यापी बनाने के लिये जो कार्यक्रम निश्चित किया गया है, उसके सफल होने में जिन बाधाओं की आशंका है, उनका कारण यह नहीं है कि उनके आदर्श में कोई त्रुटि है, या निकट-भविष्य में उसकी आशाओं के पूर्ण होने की सम्भावना नहीं है। उसका कारण यह है कि सुदूर-भविष्य के विषय में उसने जो कल्पना की है, उसका आधार कोरी आशा-वादिता पर है। अपने निश्चय पर पहुँचने के लिए उसने सब सम्भव परस्थितियों पर गम्भीर विचार करने के बजाय उस आशा-वादिता से काम लिया है, जो धर्म-प्रचारकों में पाई जाती है। विभिन्न रूप होते हुए भी यह अपने अनुयाइयों को उसी प्रकार

भविष्य में आशा करने की शिक्षा देती है, जैसी रोमन कैथलिक या इस्लाम ने दी थी। यदि जिज्ञासु विश्वास करने को तत्पर हो जाय, तो वह इस बात की विश्वासपूर्वक आशा कर सकता है कि एक-न-एक दिन उसकी सब इच्छाएं पूर्ण हो जावेंगी। अन्तर केवल इतना है कि जब कोई धार्मिक मत यह आशा दिलाता है तो उससे स्वयं विश्वास करनेवाला लाभ उठाता है, और साम्यवाद के द्वारा पहुँचनेवाले लाभ आनेवाली सन्तति के लिए उपयोगी हैं। साम्यवाद भी अपने प्रति वैसी ही हार्दिक श्रद्धा उत्पन्न कर सकता है, जैसी कि धार्मिक मत, परन्तु वास्तविक घटनाओं को ध्यान-पूर्वक देखने और समझनेवाले इस असमंजस में पड़ जाते हैं कि सचमुच सब कुछ उसी प्रकार से होगा, जैसी आशा साम्यवादी दिलाते हैं, और उन्हें इसके सत्य में विश्वास नहीं होता। संसार में मनुष्य विश्वास ही से प्रेरित होकर अपनी कल्पनाओं को कार्य-रूप में परिणित करता है। ऐसा करनेवालों को अधिकतर यह कटु अनुभव करना पड़ता है कि आशाओं का सुन्दर उद्यान तो लोप हो जाता है, और अपने भ्रमपूर्ण विचारों पर उन्हें लज्जित होना पड़ता है।

यदि साम्यवाद के कार्यक्रम की किसी राष्ट्रीय सरकार के वातावरण में कल्पना की जाय तो परिणाम इससे मिलता-जुलता हुआ होगा। साम्यवाद के लिए इस स्थिति में तीन नियम रक्खे गये हैं। एक शक्तिशाली साम्यवादी-दल की स्थापना की जाय, और 'ट्रेडयूनियन' से इसका घनिष्ट सम्बन्ध हो। इस दल को

'सोशल प्रजातन्त्रवादी दल'-वालों के साथ इस उद्देश्य से सह-योग करना चाहिये कि वह श्रमजीवी-दल को प्रतिनिधि-शासन-प्रणाली की असारता का निश्चय दिलायें। इस दल को हर एक देश के कृषक-समाज पर अपना प्रभाव जमा लेना चाहिये। इन तीनों बातों पर अलग-अलग विचार करना उचित है।

'इन्टर्नेशनल' की कांग्रेसों में इस प्रकार बहुत वाद-विवाद हुआ है, कि किस प्रकार साम्यवादी दल को शक्तिशाली बनाया जाय। इस काम के लिए सब से अधिक उपयुक्त क्षेत्र कारख़ाने हैं। हर कारख़ाने में कमेटी बना देना चाहिये, और इन कमेटियों के द्वारा यह यत्न करना चाहिये कि 'ट्रेड-यूनियन' की प्रवृत्ति क्रान्ति की ओर हो जाय। हर कमेटी को एक छोटे दल की तरह काम करना चाहिये। सब प्रश्नों पर इसे साम्यवादी दल के हितों पर दृष्टि रखते हुए विचार करना चाहिये और कार्य करने में दूसरे अपने समान दलों के साथ रहना चाहिये। इसे अपने प्रत्येक सभासद के सुपुर्द एक काम कर देना चाहिये और उससे ज़ोर डालकर उस काम को करा लेना चाहिये। इसे अपने सभासद बढ़ाने चाहियें, जिसमें इसकी शक्ति बढ़े। चूँकि यह दल साम्य-वादी दल के लिए एक प्रकार के आकर्षण का केन्द्र है, इसलिए यह बहुत महत्वपूर्ण है। इस प्रकार के विभिन्न दलों में पूरा सहयोग होना चाहिए। और नवयुवक साम्यवादी दल से इसका घनिष्ठ सम्बन्ध होना चाहिये। इन दलों को अपने को सोवियट का छोटा रूप समझना चाहिये और समय आने पर शासन

पर अधिकार जमाना चाहिये। इसको साम्यवादी दल की आज्ञाओं का पूर्णतया पालन करना चाहिये और किसी उद्देश्य या दूसरी संस्था के ऊपर इसे प्रधानता देनी चाहिये।

आन्दोलन-कार्य को और विशेष ध्यान देना चाहिये। १६२० में दूसरी 'विश्व-कांग्रेस' ने कहा था कि दल के समाचार पत्रों में बहुत ही विश्वस्त आदमियों के लेख होने चाहियें; ऐसे आदमियों के, जिन्होंनेश्रमजीवी-सरकार की 'डिक्टेटरशिप' की ओर बड़े सम्मान से संकेत किया हो। प्रति दिन के जीवन की घटनाओं का उल्लेख इस प्रकार होना चाहिये, जिसमें मज़दूर, सिपाही और कृषक को श्रमजीवी-सरकार की 'डिक्टेटरशिप' की उपयोगिता पर विश्वास हो जाय। पत्रिकाएँ और दूसरे पत्र दल की कार्य-कारिणी के शासन में रहने चाहियें; चाहे किसी जगह यह ग़ैर क़ानूनी भी क़रार दे दी गई हो। जिस समय भी 'तीसरी इन्टर्नेशनल' के अनुयाइयों को सुअवसर मिले तो समाचारपत्रों में लेख लिखकर 'ट्रेड-यूनियन' की सभाओं में वक्तृता देकर केवल पूँजीवाद ही का विरोध नहीं करना चाहिए, वरन् हर प्रकार के सुधारवादियों का भी; क्योंकि यह लोग पूँजीवादियों के साथी हैं। दल को कुछ ऐसी शिक्षा-सम्बन्धी संस्थाओं का निर्माण करना चाहिये, जिसके द्वारा इसके अनुयाइयों को साम्यवाद-सम्बन्धी मुख्य बातों का ज्ञान हो जाय। सन्ध्या के समय और रविवार के दिन इसे कुछ पठन-पाठन और उपदेशों का प्रबन्ध करना चाहिये और, ऐसे लोगों के लिए जो थोड़ा-बहुत इस

विषय में ज्ञान रखते हैं, अधिक ज्ञान प्राप्त करने के साधन उपस्थित करने चाहियें। इस शिक्षा के द्वारा ऐसे लोग तैयार किए जाँय जो दल के आन्दोलन के कार्य को कर सकें। इस बात का भी प्रयत्न करना चाहिये कि ऐसी संस्थाएँ, जिनका साम्यवाद से संपर्क नहीं है, जैसे विश्वविद्यालय या मज़दूरों के कॉलिज, उनके द्वारा भी साम्यवाद के प्रचार में सहायता ली जाय। साम्यवाद की शिक्षा के लिए क्षेत्र बना देने चाहियें, जिन में नवयुवकों के लिये उपयुक्त साहित्य का प्रबन्ध हो। इसमें मार्क्स और लेनिन के लिखे हुए ग्रन्थों का विशेष प्रचार होना चाहिये। इस प्रकार की शिक्षा-सम्बन्धी संस्थाओं में, इन्टर्नेशनल के द्वारा परस्पर संपर्क होना चाहिये। सब से अधिक ध्यान इस ओर रखना चाहिये कि साम्यवादी विद्यार्थी साधनों के अभाव के कारण यथेष्ट उन्नति करने से वञ्चित न रहें और इस योग्य बन जाँय कि सब ही ठीक प्रकार से दल की सेवा कर सकें।

आन्दोलन-कार्य के विषय में उनके विचार यह हैं। दूसरी विश्व-कॉङ्ग्रेस ने यह प्रस्ताव पास किया था—"हरएक संस्था का, जो 'साम्यवादी इण्टर्नेशनल' से सम्बन्ध रखना चाहेगी, कर्तव्य होगा कि सब उत्तरदायित्वपूर्ण पदों से (पार्टी में, कमेटी में, सम्पादन-विभाग में, ट्रेड-यूनियन में, व्यवस्थापक संगठन में, कोऑपरेटिव सोसाइटी में, और म्यूनिसिपल काउन्सिल में) सुधारवादियों को हटाकर उनके स्थान पर कट्टर साम्यवादियों को नियुक्त कर दे, चाहे ऐसा करने में सुयोग्य व्यक्तियों को हटाकर

साधारण बुद्धि और योग्यतावालों को नियुक्त करना पड़े।" इस प्रस्ताव के अनुसार ही 'ब्रिटिश कम्यूनिस्ट पार्टी' सदा इस बात का प्रयास करती है कि अपने सभासदों का 'लेबर पार्टी' की सभाओं में निर्वाचन करा दे। (इनसे साम्यवादी पृथक् कर दिये गये हैं) और वह अपने साथवालों में अपनी केन्द्रीय सभा के आदेशों के अनुसार कार्य करें। इनका यह कर्तव्य हो कि केन्द्रीय सभा में जो प्रस्ताव पास हुए हैं, उनकी सूचना दें, एक सुसंगठित प्रतिनिधि-दल के समान कार्य करें, और गोपनीय साम्यवादी गोष्ठियाँ मज़दूर दल, ट्रेड-यूनियन और दूसरी ऐसी संस्थाओं को स्थापित कर दें। इस सम्बन्ध में वह अपनी कार्यवाही की सूचना देते रहें, और इण्टर्नेशनल की कार्यकारिणी में ब्रिटिश प्रतिनिधि के शब्दों में, इस बात का सदा ध्यान रखें कि "हमारे दल के सभासद चाहे-जिस स्थिति में काम कर रहे हों, अपने दल के प्रति श्रद्धा और सब बातों पर प्रधानता मिलनी चाहिये।"

इनके आन्दोलन का यहीं अन्त नहीं होजाता है। आधुनिक सरकार का जीवन और पूँजीवाद की रक्षा सेना पर निर्भर है। इसलिये सेना पर भी साम्यवादी सिद्धान्तों का प्रभाव डालना चाहिये। इस कार्य में बड़ी सतर्कता और परिश्रम की आवश्यकता है। जहाँ कहीं क़ानून इसमें बाधा देता हो, तो वहाँ क़ानून की पर्वाह न करके यह कार्य करना चाहिये। "इस कार्य में भाग लेने से इन्कार करना" विश्व-कॉङ्ग्रेस ने कहा है—"अपने-को विद्रोही सिद्ध करना है, और 'तीसरी इण्टर्नेशनल' के सभासद

होने के अधिकार को नष्ट कर देना है।" इस आदेश के अनुसार ही 'ब्रिटिश साम्यवादी-दल' ने सेना से यह प्रार्थना की थी कि 'स्ट्राइकर्स' को गोली न मारें, और इसके फल-स्वरूप सब नेताओं पर १६२५ में अभियोग चलाया गया, और उन्हें दण्डित भी किया गया। अपने लाभ को दृष्टि में रखकर साम्यवादियों का इस कार्य पर इतना ज़्यादा ज़ोर देना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। "कोई बड़ा क्रान्ति-आन्दोलन" लेनिन ने कहा है—"तब तक नहीं हो सकता, जब तक सेना के संगठन में ख़राबी न आजाय। नया दल, जो शक्ति पर अधिकार प्राप्त करना चाहता है, इस योग्य न तो पहले ही था, और न आज ही है कि 'विरोधी-सत्ता के अधीनस्थ सेना को बिना अस्त-व्यस्त किये हुए ही अपने उद्देश्य में सफल होजाय।" साम्यवादी इस कार्य को उतना कठिन नहीं समझते, जितना यह प्रतीत होता है; क्योंकि एक तो सैनिक और सैनिक बेड़ेवाले विशेषकर श्रमजीवी-दल के ही आदमी होते हैं, और दूसरे यह लोग गृह-युद्ध में संहार करने से अपने हृदय में बड़ी घृणा करते हैं। विप्लव की दशा में घोर आन्दोलन के द्वारा यदि इन प्रवृत्तियों को जाग्रत् किया जाय, तो बहुत कुछ सम्भव है कि शासन का प्रभाव सैनिकों पर कम होजाय। यह बात तब अधिक सरलता से हो सकती है, जब सैनिक स्वयं भी किसी कारण से असन्तुष्ट हों, और साम्यवादी आन्दोलन का यह एक मुख्य उपाय है कि न-सिर्फ़ यह सैनिकों से घनिष्ठता उत्पन्न करें, वरन् उनकी किसी

भी ऐसी शिकायत को, जिसका 'श्रमजीवी-दल' से सम्बन्ध हो, लेकर ख़ूब ज़ोर का आन्दोलन खड़ा कर दें। इतिहास से यह भी ज्ञात होता है कि क्रान्ति के आन्दोलन के समय शासन सेना से बहुत अधिक सहायता की आशा नहीं कर सकता। 'लिलबर्न' और 'लिवेलर्स' के विरुद्ध अत्याचार करने के समय क्रॉमवेल को यह अनुभव हुआ था—१७६७ में क्रान्तिकारियों ने जल-सेना की शिकायतों के विषय में ज़ोरदार आन्दोलन किया था; १७८९ में पेरिस के नागरिकों ने फ़्रान्स के सिपाहियों में बहुत कुछ अपने क्रान्तिकारी भाव भर दिये थे; १८७१ में साम्यवादियों पर जब आक्रमण हुआ, तो बहुत-से सिपाहियों ने गोली चलाने से इन्कार कर दिया, और रूस में सेना को अपने पक्ष में करके १९१७ में क्रान्तिकारियों ने शासन पर अधिकार जमा लिया। सेना का किसी समय भी ठीक उपयोग करने के लिये यह आवश्यक है कि उसकी गति-विधि एक ही स्थान पर सीमित रहे; यदि झगड़ा बहुत ही विस्तृत स्थान में फैला हुआ है, तो अनायास ही शासन का सेना पर प्रभाव शिथिल होजाता है।" "औद्योगिक क्रान्ति के अवसर पर" मिस्टर विलियम पॉल लिखते हैं—"सेना का प्रसार बहुत होजाता है, और लोगों को सैनिकों से बात करके उनका मन फेर देने का बहुत अवसर मिलता है।" यदि रेल में काम करनेवाले और माल ढोनेवाले चाहें, तो गृह-युद्ध में, सिपाहियों के एक स्थान से दूसरे स्थान को जाने में बहुत बाधाएँ उत्पन्न कर सकते हैं। साम्यवादियों को यह आशा है;

यद्यपि दूसरों को इसमें अधिक भार नहीं मालूम होगा, कि झगड़े के समय वह सेना की मनोवृत्ति इस हद तक बदल देंगे कि वह गोली चलाने से इन्कार कर देगी।

इस विषय में एक बात और उल्लेखनीय है। सुधारवादी नेताओं के विरुद्ध आन्दोलन करना साम्यवादियों के कार्य-क्रम में एक मुख्य स्थान रखता है। यह बात मार्क्स के समय से चली आई है; क्योंकि वह साम्यवादियों को उदारदलीय वर्गवादियों से अलग रखना चाहता था। इस बात पर साम्यवादियों के लेखों में हर जगह ज़ोर दिया गया है। सुधारवादियों पर डरपोक, ख़ुशामदी और सिद्धान्तहीन होने का, अवसर के अनुसार, लाञ्छन लगाया गया है। लेनिन की छोटी-सी पुस्तक 'स्टेट एण्ड रेव्यूल्यूशन' में पाल्टचिनिस्की को बेईमान, शेरनाफ़ और ज़ेरटेली को लखपती लुटेरों का साथी—जो जनता के धन को लूटते हैं—, मैकहेनाफ़ को वर्णसङ्कर, और अँग्रेज़ी मज़दूर-दल को मध्यम श्रेणी के प्रजातन्त्रवादियों के समान लिखा है। साम्यवादी गालियाँ देने में सिद्धहस्त हैं; शायद इसलिए कि जिसे हम बहुत बुरा कहेंगे, उसे लोग कम-से-कम थोड़ा बुरा तो अवश्य समझेंगे। ऐसे वर्गवादी, जो साम्यवाद के सिद्धान्तों में विश्वास नहीं रखते, उन्हें साम्यवादी पतित समझते हैं; और साथ-ही इस बात का प्रयत्न करते हैं कि उन्हें कोई भी सहृदय और सच्चा न समझे।

अब एक ओर तो इनके यह भाव हैं, और दूसरी ओर संयुक्त-सङ्गठन पर साम्यवादी बहुत ज़ोर देते हैं, यह आश्चर्य की

बात है। साम्यवादी इन्टर्नेशनल की विचित्र अस्थिरता का उदाहरण यह है कि नेता लोग अपने अनुयाइयों को इन दोनों बातों पर विश्वास दिलाना चाहते हैं। उन्होंने सुधारवादियों के विरुद्ध इतना शक्तिशाली आन्दोलन किया है कि इनके साथ सहयोग करने की कल्पना-मात्र से बहुत-से साम्यवादी घबरा जाते हैं। इन्हें इस बात की आशङ्का थी कि समझौते की प्रवृत्ति के कारण आन्दोलन में निर्बलता आ जायगी, और क्रान्ति के प्रतिकूल विचार रखनेवालों के संसर्ग से साम्यवादियों का क्रान्ति के प्रति जोश ठंडा पड़ जायगा। लेनिन और उसके सहकारियों को इस प्रकार का संसर्ग बिल्कुल असङ्गत जान पड़ता था। रूस की राज्य-क्रान्ति के आरम्भ-काल में विश्व-व्यापी क्रान्ति की इन लोगों को आशा थी, और उस समय इन दोनों सम्प्रदायों में संसर्ग न रहना हितकर हो सकता था। विश्व-व्यापी क्रान्ति की कोई सम्भावना नहीं रह गई थी। लम्बे महायुद्ध ने सब को क्लान्त कर दिया, और सब इस समय विश्राम के इच्छुक थे। मज़दूरों के हृदय में यह भाव उत्पन्न होगया कि साम्यवादी मज़दूरों में भी परस्पर फूट डालने का प्रयत्न करते हैं, जिससे मज़दूरों की शक्ति क्षीण होती है, और पूँजीवादियों को लाभ होता है; इस धारणा से साम्यवाद को धक्का पहुँचा। उदारदलीय वर्गवादियों ने अपने-अपने क्रान्तिकारी विपक्षियों पर यह लाञ्छन लगाया कि आपस में झगड़ा करके यह पूँजीवादियों की सहायता करते हैं। लाखों मज़दूर इन वर्गवादियों को अपना हितचिन्तक समझते थे, और

इन पर विश्वास करते थे। पर साम्यवादी तो इन वर्गवादियों का सर्वनाश करने पर उतारू थे, और इसका उपाय केवल यह था कि प्रकट रूप से इनसे मिलकर इनकी जड़ काटें।

'तीसरी इन्टर्नेशनल' ने शीघ्र ही अपने को इन वर्गवादियों से पृथक् कर लिया। लेनिन के शब्दों में इन लोगों के साथ सहयोग करने की भावना 'साम्यवाद की शिशु-अवस्था का रोग है।' अब इस बात का प्रयत्न किया जाने लगा कि उदार दलवालों को इस बात के लिए विवश किया जाय कि वह साम्राज्यवादियों से किसी प्रकार का सम्पर्क न रक्खें, और इस प्रकार यह लोग साम्यवादियों के साथ सहयोग करने को विवश हो जायें। इस काल में साम्यवादियों ने यह लाभ देखा कि यदि इसमें सफलता न हुई तो इसका उत्तरदायित्व उदार दलवालों पर रहेगा, और यदि यह बात मान ली गई तो साम्यवादियों का अपने मत के अनुसार आन्दोलन करने का अधिकार सुरक्षित तो रहेगा ही, उन्हें अपने प्रचार-कार्य के लिए स्वर्ण-अवसर प्राप्त होजायगा। उदार दलवालों को थोड़ा सहारा देदेने का अर्थ यह नहीं है कि उनकी शक्ति को बढ़ाया जाय, 'यदि मैं हेण्डरसन का समर्थन करता हूँ' लेनिन ने कहा—'तो यह समर्थन वैसा ही है, जैसे वह रस्सी है, जो किसी के गले में फाँसी देने के लिए डाली जाती है।' उदार दल का समर्थन करने से मज़दूर-दल का साम्राज्यवादियों से विच्छेद हो जायगा, और इसके नेताओं को क्रान्ति के मार्ग में अग्रसर होना पड़ेगा। इसके लिए ऐसी माँगें पेश की जायँ, जो

मज़दूरों को बहुत उचित प्रतीत हों, और जिन्हें पूँजीवादी पूरा करने में असमर्थ हों; इससे यह बात और स्पष्ट होजायगी कि इन दोनों दलों के हित एक-दूसरे से विपरीत हैं। समझौता न हो सकने के कारण इनमें झगड़ा होने पर मज़दूर-दलवालों को साम्यवादियों का नेतृत्व स्वीकार करना पड़ेगा। मज़दूरों में जितना ही अधिक संगठन बढ़ेगा, उतना ही उनकी शक्ति में उन्नति होगी, और ऐसे लोग, जिन्हें इस संगठन-कार्य में साम्यवाद की झलक नहीं दिखलाई देगी, वह भी बाद में समझ जाएँगे कि बिना समझे हुए वह साम्यवाद के मार्ग पर चल रहे हैं। उनका क्रान्तिकारियों से गहरा सम्पर्क रहेगा, और क्रान्ति के सिद्धान्त की ओर उनका झुकाव होगा, इससे साम्यवाद का उद्देश्य सिद्ध होगा। वास्तव में इस योजना का उद्देश्य यह नहीं है कि उदार दलवालों के साथ एकता स्थापित हो जाय, बल्कि यह है कि इसके द्वारा उन्हें क्रान्ति की ओर बढ़ना पड़े।

इसलिए संयुक्त संगठन की चर्चा केवल एक चाल है, जिसे विश्व-स्थिति के कारण उपयोग लाना पड़ा। यह फ्रेंच सोशलिस्ट वाँगुएट के शब्दों में वही बात है कि "मैं अपनी प्रतिद्वन्द्वी से गले मिलता हूँ, पर इसलिए कि उसका गला घोट दूँ।" इस नीति का अनुसरण १९२० में किया गया, परन्तु इससे कुछ लाभ नहीं हुआ। बहुत-से उदार दलवालों ने, और विशेषकर इँग्लैण्ड में, साम्यवादियों का अपनी संस्थाओं में प्रवेश ही रोक दिया। १९२६ में 'ग्रेट ब्रिटेन' के स्वाधीन मजदूर दल ने, इस आशय

से कि यदि सम्भव हो तो 'तीसरी इन्टर्नेशनल' के साथ सहयोग-मार्ग ढूँढ़ निकाला जाय, एक प्रस्ताव 'दूसरी इन्टर्नेशनल' के सन्मुख रक्खा कि एक दूसरी और तीसरी इन्टर्नेशनल का संयुक्त-अधिवेशन किया जाय, पर इस प्रस्ताव के पक्ष में केवल ३ सम्मतियाँ थीं, और विपक्ष में २४७। इस चेष्टा के विफल होने का फल यह हुआ कि अब साम्यवादियों को नरम दल-वालों पर असर डालने के लिए और उपायों का उपयोग करना पड़ रहा है;—जैसे विशेष अधिवेशनों-द्वारा प्रचार करना, ऐसे स्थानों पर, जहाँ वह लघु संख्या में हैं, अपना दल बनाकर कार्य करना।

सब बातों को देखते हुए यह कहना ठीक न होगा कि उन्हें अपने इस कार्य-क्रम द्वारा सफलता नहीं मिली। रूस से जब कोई भी वक्तव्य प्रकाशित होता है, तो उससे संसार-भर के मज़दूर प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकते। जहाँ कहीं उनकी बातें स्वीकार नहीं भी की जाती हैं, वहाँ भी उन बातों पर वाद-विवाद तो होता ही है और, इससे भी साम्यवाद के प्रचार में सहायता मिलती है। इसमें सन्देह नहीं कि मज़दूर लोग वर्गवाद के आन्तरिक झगड़ों से ऊब गए हैं। उन लोगों को यह विश्वास हो गया है कि मज़दूर-संसार में साम्यवाद सब से अधिक जीवित संस्था है, और उससे पृथक् रहने को बाध्य किये जाने के कारण वह बहुत संतुष्ट हैं। जब कभी भी किसी मामले में अर्थवादियों से मज़दूरों को नीचा देखना पड़ता है, उनका झुकाव साम्यवाद

की ओर और बढ़ जाता है। मज़दूरों में एकता न होने के कारण उनकी शक्ति में जो कमी है, उसी के कारण उनकी हार होती है, इस बात को अब वह लोग समझने लगे हैं।

उदारदलीय नेता और पदाधिकारी साम्यवाद के जितने कट्टर विरोधी हैं, साधारण जनता का विरोध उससे कहीं कम है। साम्यवादियों की योजना में दो बातों के कारण दुर्बलता अवश्य है;—एक तो यह कि उन्होंने यह बात सब पर प्रकट कर दी है कि दूसरों के साथ उनका सहयोग बनावटी होता है, और दूसरी यह कि दूसरे दलवाले उस व्यवहार से, जो साम्यवादी वर्गवादियों के साथ करते चले आए हैं, इन लोगों के साथ काम करने से डरते हैं। रूस में वर्गवादियों के साथ जितना कटु और अनुचित व्यवहार होरहा है, उसके कारण कहीं भी साम्यवादियों के साथ सहयोग करने की उनकी हिम्मत नहीं होती। प्रजातन्त्रीय वर्गवादियों की यह व्यापक धारणा है कि साम्यवादी बहुत चालाक हैं, और धोखा देने से कभी चूकेंगे नहीं।

फिर भी जब परिस्थिति उन्हें इस सहयोग के लिए बाध्य करेगी, तो भला वह इससे कितने दिन तक बच सकते हैं? साम्यवादी भी तो आख़िर मज़दूरों के ही लिए काम कर रहे हैं। उनका यह दावा है कि अर्थवाद के जीवित रहने तक मज़दूरों की दशा सम्हालना असम्भव है। यदि कुछ समय तक लगातार ऐसी घटनायें होती रहें, जो मज़दूरों के हितों के विरुद्ध हैं, तो अनायास ही सब को स्वीकार कर लेना पड़ेगा कि साम्यवादियों

का यह दावा ठीक है। साथ ही जब भी मज़दूरों पर उस प्रकार का मुक़दमा चलाया जायगा, जैसा इङ्गलैण्ड में १९२६ की हड़ताल के बाद हुआ था, इसका भी ऐसा ही प्रभाव होगा। जो लोग हमारे आदर्शों को प्राप्त करने के लिए हर प्रकार का कष्ट उठाने को तैयार हैं, उनके प्रति हमें सहानुभूति क्यों न होगी? कोई सरकार जब साम्यवाद के दमन की चेष्टा करती है, तो वर्गवादियों को भी इसका विरोध करना पड़ता है; क्योंकि इस दमन का शिकार तो मज़दूरों को ही होना पड़ता है। कम-से-कम इस प्रकार का विरोध करने में तो साम्यवादियों के साथ वर्गवादियों को सहयोग करना ही पड़ता है। एक बात और भी है—रूस के ट्रेड-यूनियन्स ने जितनी बड़ी सहायता १९२६ में बृटेन की कानों में काम करनेवाले मज़दूरों को दी थी, भला उसे वह लोग कैसे भूल सकते हैं? इस सहायता के करने में रूस-वालों का चाहे कुछ भी भाव क्यों न हो, मुसीबत में तो आदमी यह देखता है कि उसका कष्ट दूर करने का क्या उपाय हुआ। क्यों किया, इस बात की किसे चिन्ता होती है। इस सहायता से बृटेन के इन मज़दूरों को यह तो अवश्य ही मालूम होगया होगा, कि उनमें और रूसवालों के विचारों में चाहे जितना भी अन्तर क्यों न हो, हैं दोनों एक ही कुटुम्ब के। साम्यवादियों की दृष्टि से यह बात बहुत ही महत्वपूर्ण है।

कृषकों की समस्याओं और असुविधाओं की ओर साम्य-वादी सदा से ही विशेष ध्यान देते रहे हैं। आरम्भ से ही इन

लोगों की धारणा यही रही है कि कृषकों की सहानुभूति इन्हें अवश्य ही प्राप्त करनी चाहिये। इण्टर्नेशनल की पाँचवीं विश्व-कॉङ्ग्रेस में यह प्रस्ताव स्वीकार किया गया था—"बिना कृषकों की सहानुभूति के शक्ति पर अधिकार प्राप्त करना अथवा सोवियट-सिद्धान्तों को जन-समुदाय से स्वीकार करा लेना प्रायः असम्भव है......। जिन कृषकों में क्रान्तिकारी विचार उत्पन्न करने में सफलता नहीं मिली है, उनका काम अधूरा है।"

यह जानकर कि बोल्शेविकों की आरम्भिक विजय इस ही लिये हुई कि उन्होंने यह ऐलान कर दिया था कि भूमि पर कृषकों का अधिकार रहेगा, हमें उसकी नीति पर आश्चर्य करने का कोई कारण भी नहीं है। आन्दोलन के आरम्भ में उस समस्या की ओर किसी को ध्यान देने का अवसर नहीं मिला, और इसका फल यह हुआ कि रूस में चारों ओर कृषकों ने विद्रोह कर दिया, और विद्रोह का दमन सैनिक-बल से करना पड़ा। लेनिन की प्रखर बुद्धि को यह समझने में तनिक भी देर न लगी कि यदि यह ज्वाला शान्त न हुई, तो सब आशाओं पर पानी फिर जायगा। उसने उस समय लिखा था—"कैसी विपत्ति है! किसान वर्गवादी सरकार का विरोध कर रहे हैं, इसका एक कारण यह भी है कि मन्त्रि-मण्डल के कुछ सदस्य अर्थ-वादियों के समर्थक हैं। यह नौबत होगई है कि एक क्रान्ति की समर्थक संस्था के विरुद्ध जनता ने विद्रोह कर दिया है, और इसे दमन करने के लिए सैनिक-बल का उपयोग करने की आव-

श्यकता पड़ रही है। इस बात में क्या तनिक भी संशय हो सकता है कि परिस्थिति बड़ी भीषण है, क्रान्ति-आन्दोलन ऐसी सीमा पर पहुँच गया है कि उसका मार्ग-भ्रष्ट होजाना अनहोनी बात नहीं है। और यदि इस समय उस विद्रोह को कुचल डाला गया, तो इस आन्दोलन का सर्वनाश होजाना अनिवार्य है।"

'बोल्शविकों' ने यह भली भाँति समझ लिया था कि वर्गवाद का यदि कृषक-समाज ने विरोध आरम्भ कर दिया तो इसकी पराजय हो जायगी। दूसरी बात उन्होंने यह भी समझ ली कि बहुत बड़ी संख्या में कृषकों की मनोवृत्ति साम्यवाद के प्रभाव से शून्य है, इसलिए बहुत समय तक वह इस संस्था को अपना नहीं सकते। शायद यही सोचकर इन्टर्नेशनल ने अपनी नीति यह स्थिर की है कि निम्न श्रेणी के कृषकों और मज़दूरों में सम्बन्ध स्थापित हो जाय। जब तक इन कृषकों का उच्च श्रेणी के कृषकों से विच्छेद न हो जायगा, साम्यवाद के मार्ग में एक बाधा बनी रहेगी। इस बाधा को दूर करने की साम्यवादी चेष्टा कर रहे हैं। इसमे सफलता प्राप्त करने के लिए वह बहुत-से उपायों का उपयोग कर रहे हैं, ग़रीब कृषकों को हर तरह सहायता देना, बड़े ज़मींदारों की भूमि को छोटे-छोटे कृषकों में बाँट देना; छोटे किसानों को उत्तेजित करके उनसे आन्दोलन कराना कि उन पर जो कर है, वह कम कर दिया जाय, या मिटा दिया जाय, और ज़मीदारों पर और अधिक कर लगाया जाय, छोटे किसानों को विश्वास दिलाना कि उन्हें सुख और शान्ति तब ही

मिल सकती है, जब ज़मींदार न रह जाँय। इस योजना को सफल बनाने के लिए वह हर प्रकार से कृषकों को उत्तेजित करते रहते हैं, और उन्हें यह विश्वास दिलाते रहते हैं कि बिना पूँजी के मज़दूर की और बिना भूमि के कृषक की एक ही-सी निस्सहाय अवस्था रहती है। इस प्रकार कृषकों और ज़मींदारों में द्वेष उत्पन्न करके और कृषकों को यह विश्वास दिलाकर कि उनकी और मज़दूरों की शोचनीय दशा के मुख्य कारण पूँजीवादी हैं, वह इन दोनों दलों में घनिष्ट सम्बन्ध स्थापित कर देना चाहते हैं।

इस कार्य में उन्हें कितनी सफलता मिलेगी, यह कहना कठिन है। अब तक जो कुछ अनुभव हुआ है, उससे तो सफलता दूर की बात मालूम होती है। यह बात भी सम्भव है कि चूँकि साम्यवाद की उत्पत्ति, औद्योगिक क्षेत्र में जो असमानता और अन्याय है, उसे मिटाने के लिये हुई है, इसलिए उसके सिद्धान्त कृषि के क्षेत्र में उचित परिवर्तन के उपरान्त भी लागू नहीं हो सकते; क्योंकि कृषकों और मज़दूरों की मनोवृत्ति में अन्तर होता है। कृषक क्रान्तिकारी आन्दोलन में तभी तक भाग लेने को प्रस्तुत होगा, जब तक उसे थोड़ी-बहुत भूमि न मिल जाय। उसकी इच्छा के पूर्ण होते ही वह इस आन्दोलन से उदासीन हो जायगा। ग़रीब किसानों को, जिन्हें सदा बेदख़ली या और आपत्तियों का भय लगा रहता है, साम्यवादी आन्दोलन के पक्ष में कर लेना सम्भव है। फ्रांस में सन् १७८९ और रूस में सन् १९१७ में ऐसा ही हुआ। पर भूमि पर अधिकार पाने के बाद

क्या वह इसलिए प्रस्तुत हो जायगा कि अपने परिश्रम से उपार्जित धन को सरकार के सुपुर्द कर दे और उसमें से उसी प्रकार अपनी आवश्यकतानुसार भाग ले ले—जैसी योजना मज़दूरों के लिए है ? इस प्रश्न का अनुभव से उत्तर नहीं दिया जा सकता। हाँ, इतना अवश्य है कि उसे विवश करके इस बात से सहमत नहीं किया जा सकता है। यदि उसे विवश किया जायगा, तो वह केवल अपनी निजी आवश्यकता-भर अन्न उपजावेगा और फिर किसानों के अतिरिक्त और सब को अन्न से वञ्चित रहना पड़ेगा और किसी भी क्षेत्र में आदमी इतना सन्तोष नहीं कर सकता, जितना कृषि में, उसका संसर्ग प्रकृति से बहुत निकटतम होता है।

साम्यवाद की दृष्टि में राष्ट्रीयता साम्राज्यवाद की समस्या का केवल एक भाग है। साम्राज्यवाद का वातावरण ऐसा होता है, जिसमें पूँजीवाद का जन-साधारण पर आधिपत्य रहता है। इससे मुक्त होने के लिए राष्ट्रीयता के लिए बन्धन से मुक्त होना परमावश्यक है। "सब उपनिवेशों और पराजित देशों को केन्द्रीय शक्ति से पृथक् होने का पूर्ण अधिकार है," स्टैलिन ने लिखा है, और "पृथक् होकर वह अपनी स्वाधीन शासन-प्रणाली स्थापित कर सकते हैं।" इस कारण से राज्य के विस्तार को बढ़ाने का प्रश्न सदा के लिए उठ जाता है। जब तक राष्ट्रीयता के भाव हृदय में रहते हैं, तब तक एक देश के श्रमजीवी-समुदाय का दूसरे देश के श्रमजीवी-समुदाय से सम्मिलन नहीं हो सकता; पूँजीवाद के पक्षपाती

राष्ट्रीयता की इस भावना को उकसाकर क्रांति के मार्ग में बाधा देते हैं। दलित देशों को सहायता देने के दो परिणाम होते हैं। एक तो साम्राज्यवाद का गौरव चीण होता है, और दूसरे अस्वाधीन देशवालों से साम्यवादियों को संसर्ग का अवसर मिलता है, और वह अपने सिद्धान्तों का प्रचार करते हैं। बुखारिन ने लिखा है "हर देश में शासकगण अपने लाभ के लिए जनता के साथ अन्याय करते हैं। पर एक देश के शासक अपने देश की जनता को यह विश्वास दिलाने की चेष्टा करते हैं, कि उसके असली शत्रु दूसरे देशवाले हैं, न कि उसी देश के पूँजीवादी। इसका फल होता है कि मज़दूर पूँजीवादियों के जाल से छूटने का यत्न करने के बजाय दूसरे देशों को अपना शत्रु समझ बैठते हैं।" स्वाधीनता की इच्छा का समर्थन करने से पूँजीवाद को हानि पहुँचती है, और एक देश के मज़दूरों के प्रति प्रेम और सहानुभूति उत्पन्न हो जाती है। यदि किसी देश के मज़दूर तो उनके सहायक हैं, पर पूँजीवादी उनकी स्वाधीनता के विरोधी हैं, तो वह दूसरे देश के पूँजीवादियों को ही अपना शत्रु समझेंगे, न कि कुल देश को, जिसमे मज़दूर भी शामिल हैं। इस दशा में वह साम्यवाद के सिद्धान्तों को स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत हो जायेंगे, और दूसरे देशों के मज़दूरों के साथ संगठित होकर अपने को स्वाधीन बनाने का यत्न करेंगे। राष्ट्रीय स्वाधीनता की अभिलाषा अन्तर्राष्ट्रीय-मज़दूर-संघ के मार्ग के बीच का एक स्थल है।

साम्यवाद का उत्थान ऐसे समय में हुआ है, जब संसार में चारों ओर राष्ट्रीय और जातीय भाव ज़ोर के साथ फैले हुए हैं। वर्सेई की सन्धि ने, कई स्थानों पर राष्ट्रों पर जो अन्याय हो रहा था, उसे दूर कर दिया, पर कई और स्थानों पर इस अन्याय का सूत्रपात भी कर दिया। अन्तर्राष्ट्रीय-क्षेत्र में जापान का गौरव, चीन में राष्ट्रीयता का पुनर्जीवन,-आदि बातों ने साम्यवाद के सिद्धान्तों की महत्ता पर नया प्रकाश डाला है, इससे किसे इन्कार हो सकता है?

जहाँ भी कोई अल्प-संख्यक समुदाय अन्याय का शिकार होगा, और जहाँ एक देशवाले दूसरे देशवालों के साथ अन्याय करते होंगे, वहाँ ही साम्यवाद की जड़ जम जायगी। भिन्न-भिन्न देशों की परिस्थिति देखने से प्रतीत होता है कि साम्यवादी अपना आन्दोलन सोच-समझकर रहे हैं। उनकी 'सुदूर पूर्वीय कांग्रेस' की पुरानी कार्यवाही देखने से प्रतीत होता है कि यह लोग अवसर का पूर्ण सदुपयोग करने में बड़े निपुण हैं।

यह समझने योग्य बात है कि उनका आन्दोलन का कार्य-क्रम एक बात है, और उसके अनुयाइयों को जिस प्रकार अपने सिद्धान्तों का पालन करना पड़ता है, वह इससे अलग एक दूसरी बात है। उदाहरण के लिये 'जॉर्जिया' को ले सकते हैं। सोवियट-सरकार ने उसे इसी प्रकार विजय किया, जिस प्रकार कोई दूसरी अर्थवादी शक्ति करती। किन कारणों के वशीभूत होकर उन्हें ऐसा करना पड़ा, वह बहुत गूढ़ नहीं है। "हम इस

बात को स्वीकार ही नहीं करते, वरन् इसके लिये सहायता देने को भी प्रस्तुत हैं कि हर जगह जनता को अपने समाज अथवा देश की व्यवस्था निश्चित करने का अधिकार हो, पर इस बात का समर्थन तभी सम्भव है, जब जनता ज़मींदारों, पूँजीपतियों-आदि के विरुद्ध आन्दोलन करने को विवश हो। पर जब इस स्वाधीनता की आड़ में अर्थवादी श्रमजीवी-सरकार के विरुद्ध आन्दोलन करना चाहें, तब हमें मानना पड़ेगा कि यह केवल इन लोगों की चाल है;" यह ट्रॉट्स्की ने लिखा है। इससे यह प्रकट है कि इस स्वाधीनता के सिद्धान्तों को लागू करने के लिये कुछ विशेष परिस्थितियों का होना आवश्यक है; हर प्रकार की परिस्थिति के लिये यह आवश्यक नहीं है। साथ-ही साम्यवादियों का यह मत कि राष्ट्रीयता के भाव आर्थिक हानि-लाभ से सम्बद्ध हैं, ठीक नहीं प्रतीत होता। यह बात सत्य है कि सरकार आर्थिक कारणों से प्रेरित हो, जनता के राष्ट्रीय भावों से लाभ उठाने की चेष्टा करे, पर यह बात भूलना नहीं चाहिये कि चाहे क्रान्तिकारी-आन्दोलन विश्व-व्यापी होजाय, और साम्यवाद का आतंक चारों दिशाओं में छा जाय, फिर भी राष्ट्रीयता का स्थान मनुष्यों के हृदय में अवश्य ही रहेगा। हमें इस भावना का अस्तित्व उस समय भी मिलता है, जिस समय उद्योगवाद ने समाज में वह भेद-भाव उत्पन्न नहीं किये थे, जिनके विरुद्ध साम्यवाद आन्दोलन कर रहा है। आर्थिक क्षेत्र में न्याय का राज्य होजाने पर सम्भव है कि उसकी तीव्रता में न्यूनता होजाय, पर फिर भी

बहुत-से ऐसे प्रश्न बाक़ी रह जायँगे, जैसे भाषा, संस्कृति, धर्म-आदि,—जो अन्तर्राष्ट्रीयता की सीमा से बाहर रहेंगे। इस समय साम्यवाद इसी कारण से विश्व-व्यापी है कि 'अर्थवाद'—जिसका वह मूलोच्छेद कर देने की चेष्टा कर रहा है—विश्व-व्यापी है। प्रश्न यह है कि यदि 'अर्थवाद' संसार से मिट जाय, तो क्या साम्यवाद की अन्तर्राष्ट्रीयता क़ायम रह सकेगी? अर्थवाद के मिट जाने पर भी कच्चे माल और उसकी प्राप्ति का प्रश्न रहेगा, और यदि विश्व-सोवियट का रूसी-सोवियट से इस प्रश्न पर मत-भेद होगया कि कॉकेशिया के तेल के कुओं का किस प्रकार उपयोग किया जाय, तो सम्भव है झगड़ा होजाय, और ऐसी परिस्थिति में रूसियों की राष्ट्रीयता अवश्य ही तीव्र रूप धारण कर लेगी। और यह बात भी माननी पड़ेगी कि जिस प्रकार की सभ्यता को हमने अपना लिया है, उसमें अपनी गति निश्चित करने का अधिकार सब छोटे-बड़े दलों को नहीं दिया जा सकता। हर प्रदेश को स्वाधीन अवश्य होना चाहिये, पर यदि कोई छोटा राष्ट्र अपना विकास करके बड़े राष्ट्रों के समान बनना चाहेगा, तो उससे संसार में अवश्य अशान्ति उत्पन्न होगी।

३

कोई संस्था अथवा दल तब तक जीवित नहीं रह सकता, जब तक उसके सभासद उसके नियमों का पालन न करें। हर-एक संस्था कुछ विशेष सिद्धान्तों का प्रचार करने के लिए उत्पन्न होती है और यदि उसके अनुयायी और कार्य-कर्त्ता स्वयं ही उसके

दें। साम्यवादी इस नियम का इस आधार पर समर्थन करते हैं कि यदि उनके दल में मतभेद के कारण टुकड़ियाँ बन जायेंगी, तो दल की सामूहिक शक्ति में कमी पड़ जायगी और अर्थवाद के विरुद्ध आन्दोलन पूरी शक्ति से नहीं किया जा सकेगा। श्रमजीवी-समुदाय को ठीक मार्ग पर चलाने का उत्तरदायित्व साम्यवादी-दल पर है। यदि उसके सभासदों को यह स्वतन्त्रता मिल जाये कि जिस आज्ञा को वह उचित समझें, उसे स्वीकार करें और जिसे उचित न समझें, उसे स्वीकार न करें, तो उस दल का गहरा नैतिक पतन हो जायगा, और उसका अस्तित्व एक वाद-विवाद की संस्था का-सा हो जायगा। इसीलिए इस दल के नियमों में इस बात पर बहुत ज़ोर दिया गया है कि इसके कार्य-कर्ता इसकी आज्ञाओं का पूर्ण रूप से पालन करें और जो ऐसा न करे, उसे दण्ड दिया जाय।

इससे यह नहीं समझना चाहिये कि किसी प्रश्न के निश्चय पर पहुँचने से पहिले वाद-विवाद तथा समर्थन और विरोध करने की पूरी स्वतन्त्रता नहीं है। जब किसी प्रश्न पर बहस होती है, तो लेखों, रिपोर्टों, वक्तृताओं का ढेर लग जाता है। निश्चय पर पहुँचने से पहले सब को पूरा अधिकार है कि अपनी बात का खूब ज़ोरदार समर्थन करें। किसी को यह शिकायत नहीं रह सकती कि वह अपनी बात कह नहीं पाया, या उसकी बात सुनी नहीं गई। अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्नों पर इस बात की गुंजाइश भी है कि यदि एक निश्चय दिया जा चुका है, और उस पर कार्य होने लगा

है, फिर भी लोग उसे परिवर्तन कराना चाहें, तो वह 'विश्व-कॉङ्ग्रेस' से अपील कर सकते हैं, और इस संस्था को उसमें समुचित परिवर्तन कर देने का अधिकार है। एक विशेष बात यह है कि इस प्रकार के वाद-विवाद में नेता लोग ख़ूब भाग लेते हैं। यदि अपने दल की किसी सभा में इङ्गलैण्ड का कोई नेता जाकर उसके साधारण कार्य-क्रम में विशेष भाग लेने लगे, तो वहाँ की जनता को इस बात पर बड़ा आश्चर्य होगा; पर रूस में लेनिन, ट्रॉट्सकी-आदि प्रति-दिन ऐसा ही करते हैं। इस विषय की कार्यवाही के सम्बन्ध के क़ाग़ज़ात देखने से पता लगता है कि विरोधी प्रश्नों और तर्कों का उचित उत्तर देने के लिये बड़ी तैयारी की जाती है। इस बात में इस दल में और इङ्गलैण्ड के मज़दूर-दल की वार्षिक कॉन्फ़्रेन्स में कुछ समता है, पर मज़दूर-दल की कॉन्फ़्रेन्स में ऐसे प्रश्नों पर, जो सामयिक नेताओं की रुचि के विरुद्ध हों, ऐसा निर्भीक वाद-विवाद नहीं होता, जैसा कि साम्यवादियों की कॉङ्ग्रेस में।

इस नियम में जितनी अच्छाई है, वह तो प्रकट है। इसके द्वारा हर-एक कार्यकर्ता को पता लग जाता है कि उसका कर्तव्य क्या है, और कर्तव्य-पालन में त्रुटि होने से क्या दण्ड मिलेगा। इसके कारण दूसरों पर आक्रमण बड़े ज़ोर से किया जा सकता है। साधारण बुद्धिवालों को एक लाभ यह भी है कि वह निश्चय के बाद फिर कुछ उसके विरुद्ध नहीं सोचते, और इससे उनका अन्तःकरण शान्त रहता है,—जैसे यदि किसी प्रश्न पर रोम से

पोप अपना निश्चय घोषित कर दें, तो रोमन-कैथलिक मत के ईसाई उसे धर्मानुकूल समझकर स्वीकार कर लेते हैं, और उन्हें इस बात की चिन्ता नहीं रहती कि यह निश्चय उनके अन्तःकरण के अनुकूल है, अथवा नहीं। जहाँ इसमें इतनी अच्छाइयाँ हैं, वहाँ कुछ बुराइयाँ भी हैं। जिस मनुष्य में कुछ भी आत्म-सम्मान है, वह कभी किसी ऐसे कार्य को नहीं करेगा, जिसे वह अनुचित समझता है। इस बात में सेना से जो समता दी गई है, वह लागू नहीं होती; क्योंकि एक सेनापति को आक्रमण करने की आज्ञा देने और एक साम्यवादी कार्यकर्ता को—सम्मिलित सामना करने के आदेश को पालन करने की आज्ञा में बड़ा अन्तर है। यह विषय भी सन्देहात्मक है कि जिस तत्परता से इस नियम का पालन किया जाता है, वह वास्तविक है या बनावटी; विशेषतया लेनिन की मृत्यु के पश्चात् दल में आन्तरिक विरोध का विष बढ़ता हुआ प्रतीत होता है, और भय के कारण कोई उसे प्रकट तो करता नहीं है, इसलिए लोगों के हृदय में उसकी जड़ जमती जाती है। यदि इस आतङ्क का सदा ही राज्य रहा, तो इस दल को ऐसे लोगों का सहयोग प्राप्त नहीं हो सकेगा, जो बनावटी सहयोग-प्रदर्शन करने को तैयार नहीं हैं, और यदि यह आतङ्क मिट गया तो दल की नींव हिल जायगी।

केवल इतना ही नहीं है। दण्ड चाहे जितना भी कठोर हो, वह आदमी के भावों को दबा तो सकता है, पर मिटा नहीं सकता; श्रद्धा हृदय से उत्पन्न होती है, जिह्वा से नहीं। साम्यवाद

अपने नियमों की कठोरता से मनुष्यों के मस्तिष्क पर अधिकार जमाना चाहता है, पर यह बात न कभी हुई है, और न होगी। इसका एक परिणाम यह भी होगा कि बहुत-से इसके अनुयाइयों में विवाद-शक्ति विलुप्त होजायगी। यदि एक फ्रेञ्च-साम्यवादी को सम्मिलित सामना करने की उपयुक्तता में अविश्वास हो और वह इन्टर्नेशनल की कार्यकारिणी का इस विषय में विरोध करना चाहे, तो उसके पास अपने विचारों के प्रचार करने का क्या साधन है? यदि वह समाचार-पत्रों में अपने विचारों को प्रकट करे तो वह विद्रोही समझा जायगा। यदि वह वार्षिक या अर्द्धवार्षिक कांग्रेस में जाकर एक लम्बी वक्तृता-द्वारा अपने मत का समर्थन भी करे, तो क्या हो सकता है? कांग्रेस पर कार्य-कारिणी का जो-कुछ प्रभाव है, उसके सामने इस बेचारे की बात कौन सुनेगा? इसलिए उसका मॉस्को जाना और वहाँ लोक-मत को अपने अनुकूल करने की चेष्टा करना उसके लिए कोई वास्तविक सुविधा नहीं है। साम्यवादी दलवाले दूसरों से वोट लेने के मामलों में कुछ कम चतुर नहीं हैं।

इसलिए यह बात असम्भव नहीं है कि इस नियन्त्रण का फल यह हो कि बनावटी एकता तो बनी रहे, और विचारों की स्वाधीनता विलुप्त हो जाय। इसका आभास हमें साम्यवादी साहित्य में मिलता है। लेनिन और ट्रॉट्सकी के समान चतुर नेताओं के लेखों और वक्तृताओं को छोड़कर और लोगों के विचारों में साधारणतया बहुत अधिक अनिश्चितता है, इस कारण

इन लोगों की बातें उन्हें तो अच्छी लगती हैं, जो लोग साम्यवाद को निश्चित रूप से स्वीकार कर चुके हैं, पर ऐसे लोग, जो अभी उस दल में सम्मिलित नहीं हुए हैं, और उसके सिद्धान्तों को अनुसन्धान की दृष्टि से देखते हैं—उन पर इसका अच्छा प्रभाव नहीं पड़ता। इसमें एक न्यूनता और है। एक ओर तो यह कहा जाता है कि विजय तभी हो सकती है, जब इस दल के सभी कार्यकर्ताओं पर कठिन नियन्त्रण रहे, और दूसरी ओर यह ऐसे लोगों के साथ भी एकता स्थापित करना चाहता है, जिन्हें इसके सिद्धान्तों से मतभेद है। सभासदों के प्रति इस दल का आदेश यह है कि वह साम्यवादी इन्टर्नेशनल की आज्ञाओं का आँख बन्द करके पालन करें, नहीं तो वह पृथक् कर दिये जायँगे। दल के अन्तर्गत वह तिल-भर भी भेद-भाव नहीं चाहते। पर साथ-ही-साथ इसके कार्य-कर्ताओं को यह भी आज्ञा है कि इङ्गलैण्ड में मज़दूर-दल, ट्रेड-यूनियन, ट्रेड-कौन्सिल-आदि में शामिल होकर इस बात का प्रयत्न करें कि उनके कार्यक्रम में निर्बलता आ जाय, इसलिये इस बात में कोई आश्चर्य नहीं है कि मज़दूर-दल इन लोगों के सहानुभूति-प्रदर्शन और सहयोग की इच्छा को शक की निगाह से देखता है। यह लोग जिन बातों का अपने सङ्गठन में बहुत आवश्यक ख़याल रखते हैं, उनकी मज़दूर-दल में अवहेलना की जाती है। संक्षेप में यदि हम ऐसी मित्रता करने की चेष्टा करें कि जिसमें दिखावटीपन बहुत अधिक हो, तो इसका परिणाम यही होगा कि दूसरे हम पर विश्वास करने में सङ्कोच करेंगे।

अपने सिद्धान्तों के अनुसार जब कोई और दल उन्नति करने का प्रयत्न करेगा, तो साम्यवादी प्रकट रूप से उनके साथ होते हुए भी हृदय से यही चेष्टा करेंगे कि उन्हें अपने प्रयास में सफलता न मिले। इस नीति का एक ही फल हो सकता है—साम्य-वादियों के बनावटी मेल-जोल की क़लई खुल जाना।

४

एक बात और उल्लेखनीय है। साम्यवाद क्रान्ति का पक्षपाती है; इसलिये उन पर यह दोषारोपण किया जाता है कि अवसर मिलते ही वह किसी भी जमी हुई सत्ता के विरुद्ध आन्दोलन आरम्भ कर देते हैं। वास्तव में यह बात ठीक नहीं है। यह दोष फ्रेंच क्रान्तिकारी ब्लैन्कुई के विरुद्ध लग सकता है, पर आधुनिक साम्यवादियों के विरुद्ध, विशेषतया लेनिन के विरुद्ध, ऐसा कहना भारी भूल है। वह तो मार्क्स के इस मन्तव्य पर विश्वास करनेवाले हैं कि क्रान्ति को सफल बनाने के लिये बड़ी सावधानी से कार्य करने की आवश्यकता है, और अनुकूल परि-स्थितियों के उत्पन्न होजाने पर ही इसे करना चाहिये। मार्क्स स्वयं ही १८७१ में कम्यून के विरुद्ध थे, और उसके समर्थन में उस समय जो कुछ भी कहा जा सका था, वह केवल साहस और वीरता की बड़ाई थी, न-कि अवसर का औचित्य। इसी प्रकार १६२२ में साम्यवादियों की सम्मति हैमबर्ग के विद्रोह के विरुद्ध थी। समय और वातावरण अनुकूल न होने पर क्रान्ति कर डालना बड़ा हानिकर होता है; क्योंकि उससे भविष्य बिगड़ता है।

अब प्रश्न यह है कि सफलता के लिये कैसी परिस्थिति की आवश्यकता है? "जिस विद्रोह में अस्त्र-शस्त्रों का उपयोग किया जाय," लेनिन ने लिखा है—"वह एक विशेष प्रकार का राजनैतिक संग्राम है। इसके अपने कुछ विशेष नियम हैं, जिन पर गम्भीर विचार कर लेना उचित है।" ट्रॉट्स्की ने अक्तूबर मास की क्रान्ति पर गहरी दृष्टि डालते हुए लिखा है कि जिस क्रान्ति में रक्त बहने की सम्भावना हो, उसके लिये विचारपूर्वक नियम बनाने चाहियें, और इन नियमों के बनाने में 'अक्तूबर की क्रान्ति' के अनुभवों से लाभ उठाना चाहिये। लेनिन ने मार्क्स के विचारों के आधार पर इसके लिये पाँच नियम बनाये हैं। पहला —मार-काट आरम्भ होजाने पर फिर रुकना नहीं चाहिये—मामले को हद तक पहुँचा देना चाहिये; दूसरा—जब क्रान्तिकारी इसके लिये स्थान और समय निश्चित कर लें, तो उन्हें शत्रु से अधिक शक्ति इकट्ठी कर लेनी चाहिये—यदि शत्रु के पास अधिक शक्ति होगी, तो विजय उसकी होगी; तीसरा—मार-काट आरम्भ होते ही उसमें री शक्ति से डट जाना चाहिये, और लड़ाई में आक्रमण करना चाहिये—शत्रु को आक्रमण करने का अवसर नहीं देना चाहिये; चौथा—शत्रु को इस बात का ज़रा भी पता न लगने पावे कि उस पर आक्रमण होनेवाला है, और आक्रमण ऐसे ही समय होना चाहिये, जब उसकी शक्ति बिखरी हुई हो; और पाँचवाँ—नैतिक दृष्टि से अपनी स्थिति सदा शत्रु से ऊँची रखनी चाहिये—युद्ध का क्षेत्र चाहे जितना भी संकीर्ण क्यों न हो,

इसका सदा ध्यान रखना चाहिये कि हर क़दम सफलता की ओर पड़ता रहे। ऐसा करने से शत्रु निर्बल होता है, और अपनी आक्रमण करने की शक्ति बनी रहती है।

यह नियम साधारण हैं, और इनमें आधुनिक अनुभवों की शिक्षा का समावेश कर देना सर्वथा उचित होगा। जिस राज्य-सत्ता पर आक्रमण करना हो, उसके संगठन को अस्त-व्यस्त कर देना चाहिए। ऐसा न करने का परिणाम वही होगा, जो १८४८ में हुआ था; जब लूईब्लैन्क ने ऐसी संस्थाओं को जीवित रहने दिया था, जो क्रान्ति के पहले बनी हुई थीं, और जिनकी रचना क्रान्ति के आधार पर नहीं हुई थी। जब तक नई संस्थायें बनाई नहीं जायेंगी, तब तक क्रान्तिकारियों का हौसला कैसे बढ़ सकता है? क्रान्ति के फल-स्वरूप जो गृह-युद्ध छिड़ जाता है, उस समय साम्यवादियों को "अपना ध्येय जनता के सामने रख देना चाहिये।" ऐसा करने से उन्हें नये आदमियों की सहानुभूति मिलेगी; और यदि अर्थवादियों और श्रमजीवियों में अधिक भेद-भाव उत्पन्न होगया है, तो इसका फल और भी अच्छा होगा। यह स्मरण रखने योग्य बात है कि क्रान्ति की शिक्षा में कटुता बहुत है; आन्दोलन ठीक-से तभी आरम्भ हो सकता है, जब ऐसे लोग—जिनका मन दुविधा में पड़ा हुआ है—निश्चित रूप से क्रान्ति के पक्ष में खड़े होजायें—किसानों को यह विश्वास दिला दिया जाय कि क्रान्तिकारियों के सहयोग से वह बहुत शीघ्र अपनी इच्छाओं को पूरा कर सकेंगे। यदि क्रांति-

कारी अपने कार्य में दृढ़ता का प्रदर्शन करेंगे, तो इनके उदाहरण से जनता भी अपना संकोच त्यागकर मैदान में आजायेगी, और अपने भाग्य को रोने के स्थान पर अपने दुःख को मिटाने के लिये माँगें पेश करने को तत्पर होजायगी। यदि आन्दोलन आरम्भ होजाने पर तनिक भी दृढ़ता में न्यूनता होगई, तो फल-स्वरूप केवल अपने अनुयाइयों में ही कमज़ोरी नहीं आवेगी, जनता पर भी इसका बहुत बुरा प्रभाव पड़ेगा, और सफलता प्राप्त करने का अवसर हाथ से निकल जायगा। मार-काट के आरम्भ होते ही चारों ओर चिन्ता और कुव्यवस्था फैल जाती है। मज़दूर लोग दुविधा में पड़ जाते हैं, और शत्रुओं को इस बात का पता नहीं होता कि क्रान्तिकारी चाहते क्या हैं। ऐसे अवसर पर क्रान्तिकारी बड़ी सफलता से कार्य कर सकते हैं, क्योंकि उनका ध्येय उनके सामने रहता है।

कार्य करने के लिये कौन-सा समय हर प्रकार से उपयुक्त है, इस बात का निश्चय करना अत्यन्त कठिन है, और लेनिन और उसके अनुयाइयों ने इस कठिनाइयों को स्वीकार किया है। यह बात सब को विदित है कि सन् १९१७ में अप्रैल मास के अक्तूबर मास तक लेनिन सिर-तोड़ कोशिश करता रहा कि बोल्शेविकों को कीरन्सकी-सरकार के विरुद्ध विद्रोह करना चाहिये, पर किसी ने भी उसका साथ नहीं दिया; यहाँ तक कि ज़िनेविव और केमीनव के समान सम्भ्रान्त व्यक्ति भी विश्वास करते थे कि लेनिन की यह सम्मति ठीक नहीं है। पर लेनिन का यह दृढ़

विश्वास था कि उस समय की परिस्थिति में ऐसी सब बातें विद्यमान थीं, जिनसे सफलता हो सकती है। सन् १९१७ के सितम्बर मास में उसने लिखा था—"पूरी विजय तभी प्राप्त हो सकती है, जब विद्रोह करने में सब क्रान्तिकारी विचार रखनेवालों का हाथ हो। यह बात मुख्यतम है। सब लोगों के साथ काम करने पर ही विद्रोह यथेष्ट प्रचण्ड रूप धारण कर सकता है। विद्रोह की ज्वाला ठीक उसी समय भड़कनी चाहिये, जिस समय जनता अपने क्रान्तिकारी जोश से उन्मत्त हो, जिस समय क्रान्ति के विरोधियों और उससे उदासीन रहनेवालों का चित्त डाँवाँडोल हो। विद्रोह के प्रश्न पर विचार करते समय इन सब बातों को उचित महत्त्व देना चाहिए।" यही मार्क्स और लेनिन के विचारों में अन्तर है।

इन बातों को दृष्टि में रखते हुए क्रान्ति-आन्दोलन को सफल बनाने के लिए तीन शर्तें हैं। जनता के हृदय में क्रान्ति के भाव जाग्रत् हो जायँ; परिस्थितियों का उचित उपयोग करने के लिए एक सशक्त साम्यवादी-दल वर्तमान हो, कार्य-सञ्चालन के लिए ऐसे नेता हों, जिनमें असीम साहस, दूरदर्शिता और हर बात को ठीक समय पर करने की क्षमता हो। यह मन्तव्य हैं तो बड़े मार्के के, पर इनमें त्रुटियाँ भी हैं। यह तो प्रकट है कि रूस की राज्य-क्रान्ति में जो अनुभव प्राप्त हुआ था, यह उसका निष्कर्ष है। रूस की अवस्था क्या थी? वहाँ सरकार का संगठन अस्त-व्यस्त होगया था, जनता क्रोध से पागल होकर ऐसी माँगें पेश

कर रही थी, जिन्हें सरकार पूरा नहीं कर सकती थी। बोल्शेविकों ने मैदान में आकर जनता को विश्वास दिलाया कि वह उनकी माँगें पूरी करने को तैयार हैं; इस प्रकार उनकी बात बड़ी होगई, और अन्त तक वह अपनी बात को बड़ी ही बनाये रहे। लेनिन इनका नेता था, और उसके आदर्श नेता होने में किसी को भी शक नहीं हो सकता।

रूस की परिस्थिति की उपर्युक्त व्याख्या ठीक है, पर यह कहना भी सर्वथा उचित है कि यह कार्य-विधि ऐसी ही परिस्थिति में सफलता से लागू हो सकती है। सन् १६१७ में रूस में दो विरोधी दल थे, और यह दोनों अल्प-संख्यक थे। अन्तर इतना ही था कि एक दल ने अपनी सूक्ष्म दृष्टि से जनता के मनोभावों को ठीक-ठीक समझ लिया; इसलिए जनता उसके पक्ष में होगई। लेनिन अपने प्रयास में इसलिए सफल हुआ कि उसने उन्हीं सब बातों का समर्थन किया, जिनके लिए जनता उत्सुक थी, और इस कारण जनता उसके पक्ष में होगई। ऐसी परिस्थिति में यदि कोई दल शक्तिशाली है और उसके नेता योग्य हैं, तो उसे अवश्य सफलता प्राप्त हो जायगी। यदि किसी देश की जनता को वहाँ के अधिकारी बहुत अधिक कष्ट दें, यदि असफल युद्ध के अवसर पर उस देश की सेना विद्रोही हो जाय, और यदि ठीक इस समय साम्यवादी-दल, जिसका नेता बहुत चतुर और दूरदर्शी हो, इस बात का ज़ोरदार दावा करे कि वह सब दुःख अवश्य दूर कर देगा; ऐसी दशा में साम्यवादियों की वैसी

ही विजय होना अनिवार्य है—जैसी रूस मे सन् १९१७ में हुई थी। साथ ही अक्टूबर मास का अनुभव भी भूलने योग्य नहीं है। लेनिन और कुछ हद तक ट्रॉट्सकी के समान सम्भ्रान्त नेता कभी ही मिलते हैं। इन लोगों का नियन्त्रण इनके दल पर इतना कठोर था कि शायद ही कोई दल इतना कठोर नियन्त्रण सह सकेगा। संसार में कठिनाई से कहीं के भी शासन में इतनी अनीति, इतना ज़ुल्म, इतनी स्वेच्छाचारिता नहीं मिलेगी, जितनी रूस में ज़ार के काल में थी, न इतनी अयोग्यता और भद्दापन मिलेगा, जैसा बाद में कीरेन्सकी का सिद्ध हुआ। किसी भी सेनाको इतना अधिक कुव्यवस्था और कुव्यवहारका शिकार न होना पड़ेगा, जैसा सन् १९१४ के योरोपीय महायुद्ध में रूसी नेता को। यदि साम्यवादियों में यह क्षमता है, कि अनुभव से क्रान्ति को सफल बनाने का ढङ्ग जान लें, तो साम्राज्यवादी भी अनुभव से यह सीख सकते हैं कि क्रान्ति का प्रतिकार कैसे किया जाय। लॉर्ड मॉर्ले ने एक स्थान पर लिखा है—"राजनैतिक क्षेत्र में कभी-कभी ध्येय के प्राप्त करने में बड़ी रुकावटें पड़ जाती हैं। क्रान्तिकारियों को तो सदा धधकती हुई अग्नि में होकर ही चलना पड़ता है। क्रान्तिकारियों को अपने ध्येय की प्राप्ति में बड़ी विषम बाधाओं का सामना करना पड़ेगा। कभी-कभी यह बाधायें इतनी जटिल होती हैं कि इन पर विजय पाना प्रायः असम्भव होजता है।

इस दृष्टि-कोण से इस प्रश्न की ओर देखने का यह आशय

नहीं है कि मार्क्स के विद्रोह-सम्बन्धी नियम भ्रमपूर्ण है; उल्टा इससे यही सिद्ध होता है कि उनका उत्कर्ष बिल्कुल ठीक है। इस सम्बन्ध में इतना अवश्य जान लेना चाहिये कि वह परिस्थिति, जिसमें वह सफलता के साथ लागू हो सकते हैं, बहुत ही कम उपस्थित होती हैं; और यदि ऐसा हो भी जाय, तो असाधारण बुद्धिमान नेता ही उसका उचित उपयोग कर सकता है। इससे जो शिक्षा मिलती है, वह ऐसी शिक्षा है, जिसे हर शासनाधिकारियों को ग्रहण करना चाहिये और ऐसा न करने का दण्ड यह है कि वह शासन अधिकार-शून्य हो जायगा। वह शिक्षा यह है कि जो शासन जनता की माँगों की ओर ध्यान न देगा और उससे उदासीन रहेगा, वह निश्चित रूप से स्थान-च्युत हो जायगा। जहाँ भी शासन जनता की माँगों को उपेक्षा की दृष्टि से देखेगा, वहाँ साम्यवाद के सिद्धान्तों के प्रचार के लिए उचित वातावरण उत्पन्न हो जायगा। उदाहरण के रूप से यह कहा जा सकता है कि यदि इङ्गलैण्ड में शासन ट्रेड-यूनियनों को क़ानून के अङ्कुश से शक्तिहीन करने की चेष्टा करे, या फ्रान्स फिर-से एकतन्त्र की स्थापना की चेष्टा की जाय, उन देशों में जो वातावरण उत्पन्न हो जायगा, वह साम्यवाद के प्रचार के लिए बड़ा अनुकूल होगा। जो भी शासन इतनी असावधानी करेगा, उसे सचमुच जीवित रहने का अधिकार भी नहीं है। साथ ही यह भी न भूलना चाहिये कि रूस की राज्य-क्रान्ति केवल साम्यवाद ही की सम्भावना के क्षेत्र में नहीं लाती

है। इटली में मुसोलिनी की 'डिक्टेटरशिप' साम्राज्यवादियों के लिए उतनी ही लाभकर है, जितनी रूस की 'डिक्टेटरशिप' श्रमजीवी-समुदाय के लिये। इस बात में एक कटु सत्य यह भी छिपा हुआ है कि जहाँ एक बार क्रान्ति की अग्नि भड़क उठी, उसके उपरान्त यह नहीं कहा जा सकता कि उसकी लपटें किसे नेता बना देंगी। क्रान्ति के मार्ग का अनुसरण करनेवालों को सदा इस बात का ख़तरा है, वह शान्ति का मार्ग छोड़कर हिंसात्मक साधनों का उपयोग करते हैं, और ऐसा करने पर परिणाम यह नहीं होता कि जिस सत्य की उन्हें खोज है, उसे प्राप्त कर लें, यह भी सम्भव है, उसका परिणाम उनकी आशा के प्रतिकूल हो। ऐसी परिस्थितियाँ भी उत्पन्न हो सकती हैं, जिसमें हिंसात्मक विरोध करने के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं हो, पर जान-बूझकर हिंसात्मक क्रान्ति करने का परिणाम अधिकतर यही होता है कि उसके समर्थक विफल होकर पश्चात्ताप करें।

❀ ❀ ❀

परिणाम

यदि कोई ऐसा कहे कि साम्यवाद में क्रूरता ही क्रूरता है, और यदि थोड़े-से हिंसात्मक मनोवृत्ति के लोग इसका प्रचार न करते तो कभी भी ऐसी गर्हित संस्था का जन्म न होता, सर्वथा व्यर्थ है। जिस प्रकार दूसरे सिद्धान्त संसार के सम्मुख आए और उनको जनता की बड़ी-बड़ी संख्या ने अपनाया, वही हाल इसका भी है। इसकी उत्पत्ति भी कुछ विशेष परिस्थितियों के कारण हुई है। जो लोग इसमें क्रूरता के सिवा और कुछ नहीं देखते, जिनका यह ख़याल है कि इसके विचार-शून्य अनुयायी कभी उन शक्ति-शाली सत्ताओं का नाश नहीं कर सकते, जिनका उन्होंने बीड़ा उठाया है, उन लोगों को स्मरण रखना चाहिए कि ईसाई धर्म के प्रारम्भिक काल में उसके सम्बन्ध में भी लोगों का ऐसा ही ख़याल था।

इसमें शक नहीं कि इसके सिद्धान्त के अनुसार आचरण करना हँसी-खेल नहीं है। साम्यवादियों ने स्वयं स्वीकार किया है कि इन्हें किसी जगह लागू करने में बड़ा ख़तरा है। यदि हम मान भी लें कि इसे अन्त में सफलता मिलेगी तो भी उस सफलता का मूल्य बड़ा भयानक होगा। और यदि कहीं सफलता न मिले तो इस बात की आशंका है कि वहाँ के समाज की सुव्यवस्था और सुविचार सर्वथा नष्ट हो जाय। इन सब बातों के होते हुए भी यह निश्चित है कि लोग इन ख़तरों को झेलेंगे और इसकी सफलता की चेष्टा करेंगे। इस समय इसके अनुयाई जितनी तत्परता से इसकी आज्ञाओं का पालन करते हैं, वह और किसी संस्था में विद्यमान नहीं है। मृत्यु अथवा कारावास इसके समर्थकों को उनके कर्तव्य-पथ से हटा नहीं सकता। चाहे जर्मनी हो, चाहे बलोरिया, चाहे हँगेरी, चाहे सुदूर-पूर्व—हर जगह इसके कार्यकर्ता इसका प्रचार-कार्य करने के लिए हर तरह की विपत्ति को झेलते हैं। इनमें उतना ही जोश है, जितना विशुद्ध-सम्प्रदायवालों में था। आदर्श भी दोनों का यही था कि कुल संसार को अपना अनुयाई बनावें।

साम्यवादी तो वास्तव में अँगारों से खेलते हैं। जो लोग उनके सिद्धान्तों को नहीं मानते, उन्हें भी यह तो स्वीकार करना पड़ेगा कि वर्तमान समाज में जिन कुरीतियों के विरुद्ध वह आन्दोलन कर रहे हैं। उनके अस्तित्व में कोई शक नहीं है। हमारी उत्पादन-शैली अथवा विभाजन-शैली न्यायपूर्ण तो है

नहीं। हम अपने चारों ओर जो अनाचार देखते हैं, उसके वर्णन में अतिशयोक्ति कैसे सम्भव है? विज्ञान ने प्रकृति को बड़ी शीघ्रता से अपनी शक्ति में कर लिया है। मज़दूरों का जीवन सुख-रहित है। जितना अधिक मनुष्यों को इस अनाचार का ज्ञान होता जाता है, उतना ही अधिक वह इसके पंजे से छूटने के लिये उत्सुक होते जाते हैं। युद्ध के उपरान्त लोगों को यह अन्याय और भी कड़ुवा अनुभव होता है। जब सब लोग साथ ही अपने जीवन की आहुति देने को तैयार थे। तो फिर उसके परिणाम-स्वरूप जो लाभ हुआ है, उसमें सब को बराबर भाग क्यों न मिले?

इस प्रकार की बातें सोच-सोचकर जनता साम्यवाद के आदर्श की ओर झुक जाती है। जिन अनाचारों के विरुद्ध साम्यवादी आन्दोलन करते हैं, जनता अनुभव करती है कि वह उन ही के कारण दुखी हैं। जनता को यह चेतावनी दी जाती है कि शासकगण कभी उसका दुःख दूर नहीं करेंगे। साथ ही जनता को यह आश्वासन दिया जाता है कि यदि वह साम्यवाद के पक्ष में आ जायगी तो उसे भी कुल लाभ में से बराबर भाग मिलेगा और किसी के साथ भी अन्याय नहीं होगा। आश्चर्य तो यह है अब तक बहुत बड़ी संख्या में अनाचार-पीड़ित व्यक्ति इसमें सम्मिलित क्यों न होगए।

इस शिक्षा से जनता को बचाने का एक-मात्र उपाय यही है कि शासकवर्ग उसे इतने वास्तविक और व्यापक सुधार दे देवें

को तत्पर हो जाँय, जिसमें जनता सन्तुष्ट हो जाय। यह तब ही सम्भव है, जब प्रजातन्त्र-शैली का समावेश सब ही विभागों में कर दिया जाय। कठिनाई यह है कि हर देश में थोड़े-से शक्ति-शाली व्यक्ति ऐसी मनोवृत्ति के भी होते हैं, जो सुधारों का कट्टर विरोध करती है। किसी भी परिवर्तन का वह आँख बन्द करके विरोध करने को तत्पर रहते हैं, और उनकी यह चेष्टा बड़ी खतरनाक है। वह वर्तमान स्थिति से पूर्णतया सन्तुष्ट हैं और अपने चारों ओर फैले हुए अन्यायों से नितान्त अनभिज्ञ। यदि उनके विरुद्ध कोई आवाज़ उठावे तो वह उसे अपना घोर शत्रु समझते हैं। उनका यह विश्वास है कि जो सत्ता अपने सिद्धान्तों के विषय में दूसरों को छानबीन करने का अवसर देने को तैयार है, और आवश्यकतानुसार उसमें परिवर्तन भी स्वीकार कर सकती है, उसका गौरव नष्ट हो चुका है। इस नीति का क्या फल हो सकता है? इससे भीरु मनुष्य तो निराश होकर बैठ रहेंगे और साहसी दुस्साहस करने को तैयार हो जाएँगे। इस नीति के समर्थकों को भी समझौता वैसा ही अप्रिय लगता है, जैसा साम्यवादियों को। अपनी अनुदारता और हठ के कारण यह ठीक वैसी परिस्थिति उत्पन्न कर देते हैं, जो इन के लिए अत्यन्त हानिकर हैं। इनकी दृष्टि इतनी संकुचित होती है कि यह इस बात को देख ही नहीं पाते कि निकट-भविष्य में परिवर्तन होना अनिवार्य है, और इस परिवर्तन का सम्बन्ध जनता की आवश्यकताओं से है। सम्पत्ति के अधिकार तो इनके विचार में अनादि

और अनन्त हैं, जिनमें कभी किसी प्रकार की कमी हो ही नहीं सकती। यह लोग ऐसा समझते हैं कि इन्हें दूसरों की बातों को अस्वीकार करने का पूरा अधिकार है, पर इनके अतिरिक्त और किसी को कोई बात कहने का अधिकार नहीं है।

यह सब होने पर भी यह अपने विरुद्ध बहती हुई विचार-धारा को क्षीण नहीं कर सकते, और इनकी इच्छा के विरुद्ध किसी बात का होजाना क्रान्तिकारियों की जीत है। वास्तव में क्रान्तिकारियों के विरुद्ध भाव जनता में तभी उत्पन्न हो सकते हैं जब विश्वास दिला दिया जाय कि यह लोग उसके हितों की रक्षा क्रांतिकारियों से अधिक करने की क्षमता रखते हैं, और भर-सक इस बात की चेष्टा करेंगे। यह असम्भव है कि हम मनुष्यों की समानता तो स्वीकार कर लें, पर कार्य-रूप में उसे परिणित न करें। जैसे-जैसे जनता में जागृति की मात्रा बढ़ती जायगी और उसे अपने साथ होनेवाले अन्याय का अधिकाधिक ज्ञान होता जायगा, तैसे-तैसे यह कार्य अधिक दुस्तर होता जायगा।

कुछ लोगों का यह भी ख़याल है कि चूँकि रूस की क्रान्ति का फल बहुत आशाजनक नहीं हुआ, और जो-कुछ भी थोड़ी-बहुत सफलता प्राप्त हुई है, उसका बहुत भारी मूल्य चुकाना पड़ा है, इसलिए सब लोगों पर यह बात प्रकट हो जायगी कि साम्यवाद कोई लाभ-प्रद सिद्धान्त नहीं है। इस विषय में यह जान लेना चाहिये कि ऐसी आशा करना उस समय तक केवल भ्रम है, जब तक संसार में ऐसे मनुष्य विद्यमान हैं, जिनका

जीवन वर्तमान कुरीतियों के कारण दुःखपूर्ण है। फ्रान्स की राज्य-क्रान्ति ने जो ज्वाला जनता के हृदय में धधका दी थी, उसका मनुष्य-प्रकृति से इतना गहरा सम्बन्ध था कि क्रान्ति-काल में जो घोर अत्याचार और अनाचार हुए, वह भी उस ज्वाला को शान्त नहीं कर सके। संसार-भर के मज़दूर आज रूस का मुँह उन बातों के कारण तक रहे हैं, जिनकी प्राप्ति का आश्वासन उन्हें रूस से मिल रहा है। उन्हें यह आशा होती जाती है कि जिस व्यवस्था का साम्यवादी समर्थन करते हैं, उसमें बहुत सी त्रुटियाँ होते हुए भी वह इनके हितों के लिए बहुत लाभकर है। वह देखते हैं कि इस दल की जितनी माँगें हैं, और जिन सिद्धांतों का वह समर्थन करता है, वह वास्तव में उन्हीं की माँगें और उन्हीं के सिद्धान्त हैं। उन्हें यह असमञ्जस अवश्य हो सकता है कि कहीं ऐसा न हो कि इन भावी लाभों का बहुत-अधिक मूल्य चुकाना पड़े। यह भी सम्भव है कि वह इस बात से अप्रसन्न हों कि उन्हें रूस के पद-चिह्नों पर चलने के लिये विवश किया जाता है। परन्तु जब रूस की स्वतन्त्रता पर कोई आक्रमण करता है, उस समय इनका क्रोध देखने से यह पता लगता है कि रूस ने इनके हृदय में एक स्थाई स्थान प्राप्त कर लिया है। व्यापार की दृष्टि से रूस का उत्पादन उचित मात्रा से बहुत थोड़ा है; मज़दूरों की दृष्टि से वहाँ की सत्ता साधारण मनुष्यों की गौरव-वृद्धि करती है। पुरानी सत्ता के पक्षपाती मज़दूरों का ध्यान इस ओर दिलाते हैं कि वहाँ की मज़दूरी बहुत कम है, घरों की कमी और

ख़राबी के कारण बड़ा कष्ट है, और राजनैतिक और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का नाम-निशान तक नहीं है। पर मज़दूरों की दृष्टि में इन बातों का विशेष महत्व नहीं है। उसकी दृष्टि में महत्वपूर्ण बात यह है कि साम्यवाद के सिद्धान्तों के अनुसार सब को काम करना पड़ेगा, जनता की दशा में बहुत उन्नति हो जायगी, और न्याय के विपरीत किसी के साथ भी पक्षपात नहीं होगा। इस समय संसार को साम्यवाद के प्रभाव से बचाने का उपाय यह है कि कोई दूसरी योजना, जिसमें जनता को प्रसन्न करने की क्षमता हो, क्षेत्र में लाई जाय; यदि ऐसा न हुआ, तो फिर यही होना सम्भव है कि रूस के अनुभव में भयानक त्रुटियाँ होते हुए भी इसका प्रचार उत्तरोत्तर बढ़ता ही रहे।

एक बड़ी त्रुटि साम्यवाद में है। उसने अपना कार्य-क्रम इस सिद्धान्त पर बनाया है कि मनुष्य-संसार केवल सीधी-सादी बातों पर स्थित है—उसमें कोई उलझन नहीं है। उसकी यह धारणा है कि जिन उपायों का वह समर्थन करता है, वह हर जगह सफलता से उपयोग किये जा सकते हैं। यह भूल है। संसार की किसी समस्या का कोई हल भी ऐसा पूर्ण नहीं हो सकता, जिसमें किसी प्रकार की त्रुटि न हो। किसी भी योजना से हम सब विभिन्न प्रकार की आवश्यकताओं को पूरा नहीं कर सकते। इससे यह परिणाम निकलता है कि हमें ऐसे सिद्धान्तों की आवश्यकता नहीं है, जिनमें विद्रोह और शत्रुता की आवश्यकता है; जैसा कि साम्यवाद। इसके विपरीत ऐसे सिद्धान्त

प्रशंसनीय हैं, जिनसे सहयोग उत्पन्न हो। निराशावादी यह कहते हैं कि कोई भी सिद्धान्त ऐसा नहीं हो सकता, जो सदा के लिए उत्तम हो। इनकी सम्मति में साम्यवाद को स्वीकार करने में बड़ा ख़तरा है; क्योंकि आरम्भ में इस बात की आवश्यकता है कि आज तक शान्ति, दूरदर्शिता और सहयोग से जितना रचनात्मक कार्य होगया है, उसे नष्ट कर दिया जाय, और यह सब केवल इस आशा पर किया जाय कि शायद भविष्य में इसका कुछ अच्छा परिणाम हो। वह भी यदि हुआ तो उसमें कटुता की काफ़ी मात्रा होगी। ऐसी सम्मति रखनेवालों के विचारों को कुछ बातों से और पुष्टि मिलती है। एक तो यह कि मार्क्स के अर्थ-सम्बन्धी विचारों के विरुद्ध काफ़ी असन्तोष है, और दूसरी यह कि साम्यवादियों की योजना सफल बनाने के लिए बड़ा भयङ्कर मूल्य चुकाना पड़ता है। यह निराशावादी साम्यवादियों की जीत की सम्भावना से इन्कार नहीं करते, हालाँकि उन्हें इस बात पर शक है कि जीत हो जाने पर सब बातें वैसी ही होंगी, जैसी साम्यवादी चाहते हैं। उनकी यह धारणा है कि कोई भी कार्यक्रम, जिसका आधार घृणा और भय पर है, कभी प्रेम और सद्भाव का वातावरण उत्पन्न नहीं कर सकता। भय और घृणा तो वातावरण को इतना दूषित कर देते हैं कि उसमें हिंसा, घृणा और भय ही उपज सकते हैं। यदि कोई मनुष्य किसी अच्छे आदर्श के लिए भी क्रूरता करे तो उसका मानसिक पतन तो अवश्य ही होगा।

लेकिन एक बात का ध्यान अवश्य रखना चाहिये—साम्य-वाद की ओर राजनैतिक और चाहे आर्थिक दृष्टि से देखा जाय, हमको यह भी याद रखना चाहिये कि उसके दावे में कितना सत्य है—जिन साधनों के द्वारा वह अपना ध्येय प्राप्त करने की चेष्टा करता है; केवल उनकी निन्दा कर देना ही काफ़ी नहीं है। लूथर को समाज से पृथक् कर दिया गया, पर क्या यह उसकी युक्तियों का उत्तर था? बर्क की अनभिज्ञता के कारण उसकी वक्तृताओं ने योरोप को सन् १७८९ की समस्या को समझने तक वञ्चित रक्खा; जिन लोगों ने आधुनिक रूस को कुचल डालने की चेष्टा की, उन्होंने वर्तमान समय की समस्याओं को और भी जटिल कर दिया है। केवल राजनैतिक अधिकार मिल जाने से उस समय तक कोई लाभ नहीं है, जब तक आर्थिक अधिकार भी जनता को न मिलें। ऐसी स्थिति में मान-सिक एकता कैसे उत्पन्न हो सकती है? जिसमें जनता दो भागों में बँटी हो—सम्पत्तिशाली और ग़रीबों में; इस प्रकार की एकता के अभाव का यह फल होता है कि एक ओर तो यह प्रयत्न होता है कि वर्तमान सत्ता का नाश कर दिया जाय, और दूसरी ओर उसकी रक्षा करने का प्रयत्न होता है। जब जनता के अलग-अलग भागों के जीवन में समता नहीं है तो विचारों में भी समता नहीं हो सकती, और इस कारण स्नेह-सूत्र क़ायम नहीं कर सकते; यह शिक्षाएँ हमें इतिहास से मिलती हैं। यह भी हमें स्वीकार करना पड़ेगा कि शासन-सत्ताओं का पतन

होता रहता है, इसलिए उनके जीवन के लिए यह परमावश्यक है, कि जहाँ तक हो सके अधिक-से-अधिक मनुष्यों को उनके द्वारा लाभ पहुँचता रहे। इस बात को करने के लिए यह आवश्यक है कि शासन-प्रणाली का विस्तृत रूप से सुधार किया जाय, और जनता को शासन के सम्बन्ध में मत देने का अधिकार दिया जाय। इस मताधिकार का परिणाम यह होगा कि सम्पत्ति-विषयक अधिकारों में परिवर्तन करके अधिक समानता स्थापित की जाय; क्योंकि बिना इस बात के समान हक़ों का प्रश्न, जो आधुनिक शासन-विधान का आदर्श है, हल नहीं हो सकता।

साम्यवाद के सम्मुख भी यही आदर्श है। अब अन्तर यह है कि इस आदर्श को उसके साधनों-द्वारा प्राप्त किया जाय। जो कोई भी अर्थवादियों के सिद्धान्त और उनकी मनोवृत्ति से असन्तुष्ट है, उसके असन्तोष का कारण यही है। साम्यवाद में विशेषता यह है कि उसके उन अनुयाइयों के विश्वास में अनुपम दृढ़ता है, अन्ध-विश्वास है,—ऐसी दृढ़ता किसी भी धर्म के अनुयाइयों में देखने में नहीं आती। जिन लोगों के हृदय में असमञ्जस है, वह इसके आदेशों के कारण अपने विचारों को स्थगित कर देते हैं; अपने अनुयाइयों को यह अपनी उत्कृष्टता का वैसे ही विश्वास दिलाता है, जैसे और धर्मों ने किया है; और साथ ही इसका यह दावा है कि अन्त में इसकी विजय अनिवार्य है। यदि इसके विरुद्ध यह कहा जाय कि यह ध्वंसात्मक कार्य करता है, तो इसका यह उत्तर है कि यह ध्वंसात्मक कार्य सत्य की विजय के

उत्पन्न किया जाता है। इस शक्ति का महत्व न समझना भारी भूल है। यह ही वह शक्ति है, जिसने ईसाई-धर्म को प्रारम्भिक काल में, 'प्यूरिटन्स' को १७ वीं शताब्दी में और मोहम्मद को धार्मिक युद्ध में विजेता बनाया। जिन लोगों की मनोवृत्ति इसके अस्तित्व को स्वीकार नहीं करती। उन्हें इन सब के सिद्धान्तों में केवल नीरसता प्रतीत होगी, और वह यह समझेंगे कि जिस सिद्धान्त में दया और न्याय का स्थान नहीं है, वह सर्वथा घृणा के योग्य हैं। ऐसे विचारवालों को दो उत्तर दिये जा सकते हैं; एक—'प्यूरिटन' धर्म उसके अनुयाइयों को शुष्क प्रतीत नहीं होता था; उल्टा जिस त्याग और बलिदान का आदर्श वह सामने रखता है, उसके कारण वह लोग आनन्द से उन्मत्त हो जाते थे। दूसरा—जिस समय हृदय में यह दृढ़ विश्वास उत्पन्न होजाता है कि किसी सिद्धान्त-विशेष का आधार सत्य पर है, तो उस सिद्धांत का महत्व, दया और न्याय भी अधिक होजाता है।

साम्यवाद के विषय में मिस्टर कीन्स ने लिखा है—"उससे जो भाव हृदय में जाग्रत् होते हैं, उनका सम्बन्ध आर्थिक स्थिति से है। वह समाज को एक नये साँचे में ढालना चाहता है, अर्थ-लाभ की इच्छा का मनुष्यों पर अब से दूसरी प्रकार का प्रभाव होगा, जिसमें वह आचरण और व्यवहार, जिसे अब अच्छा समझा जाता है, वह अच्छा न समझा जायगा।" धार्मिक श्रद्धा में यह शक्ति है कि सांसारिक व्यवहार के महत्व में परिवर्तन कर देती है। इसमें बहुत-सी बाधाओं के होते हुए भी बड़ी ज़बर्दस्त

मानसिक प्रेरणा की क्षमता है। जवानी का जोश इस ओर आकर्षित होजाता है। इसमें वह आन्तरिक प्रेरणा है, जिससे प्रेरित होकर कलाकार, कवि, वैज्ञानिक और तत्ववेत्ता संसार को अपने कार्य से चकित कर देते हैं। यही वह शक्ति है, जिसकी सहायता से बड़े-बड़े नेता जनता को जिधर चाहें, ले जा सकते हैं। इसकी साधारण सफलता से भी संसार के इतिहास पर अपना अमिट चिन्ह छोड़ जाती है। साम्यवाद के आदर्श की प्राप्ति यदि बाद को सम्भव भी सिद्ध होजाय, फिर भी इस समय तो उसके समर्थक उसकी सफलता के लिए कोई बात उठा नहीं रखेंगे।

साम्यवाद के इस पहलू पर ज़ोर देना इसलिए आवश्यक है कि उसकी ओर ध्यान देने पर सब से पहले इसी पर दृष्टि पड़ती है। उसमें सेवा-भाव उत्पन्न करने की अनुपम शक्ति है, उसके ऊँचे आदर्श की ओर मन अनायास ही आकर्षित होजाता है, और सब राजनैतिक सिद्धान्त उसके सम्मुख फीके जँचने लगते हैं। उसके प्रभाव से मन में ऐसे भाव जाग्रत् होते हैं, जैसे फ्रांस की राज्य-क्रान्ति-विषयक काव्य से असीम आशा और साहस से मन विभोर होजाता है—कठिन-से-कठिन ध्येय की प्राप्ति भी सामर्थ्य के बाहर प्रतीत नहीं होती। योरोप के बहुतेरे निवासी मार्च, १९१७ की रूस का क्रान्ति के समाचार सुनकर इसके प्रभाव से उत्तेजित होगए थे; उनके हृदय में अथाह आशा का संचार होगया था, और विजय उन्हें बहुत ही सुलभ प्रतीत

होने लगी थी। सन् १९१८ में योरोपीय महायुद्ध के बाद इँग्लैण्ड के बहुत-से निवासियों ने भी ऐसी ही मनोवृत्ति का अनुभव किया; क्योंकि युद्ध के कारण उनमें आन्तरिक सहयोग की गहरी प्रवृत्ति उत्पन्न होगई थी, और शान्ति के बाद वह प्रवृत्ति क्रियात्मक रूप धारण करने के लिये नया क्षेत्र ढूँढ़ रही थी।

अब यह प्रश्न है कि क्या अर्थवाद भी अपने अनुयाइयों के हृदय में ऐसे उद्गार उत्पन्न कर सकता है? हमारी वर्तमान सभ्यता और संस्कृति ऐसी है, जिसने आर्थिक नीति को धर्म और सद्भावना से बिल्कुल पृथक् कर दिया है। मिस्टर कीन्स के शब्दों में ऐसी आर्थिक नीति तभी जीवित रह सकती है, जब वह अत्यन्त सफल सिद्ध हो। यदि इसके द्वारा धनी और साधारण मनुष्य सभी पूर्णतया सन्तुष्ट रहें, और अपने ध्येय को प्राप्त कर सकें, तभी इसकी सफलता है। बिना इसके अर्थवाद जनता का विश्वास-पात्र नहीं हो सकता। इसके समर्थकों में पहले का-सा आत्म-विश्वास और आशावादिता नहीं रह गई है। इन्हें हर परिस्थिति में अपने-को दूसरों के आक्रमण से बचाने की नीति का अनुसरण करना पड़ता है। सौ वर्ष पूर्व इसका वैभव इतना बढ़ा हुआ था कि धार्मिक संस्थायें इसके सामने सिर उठाने का साहस नहीं करती थीं—अब यह दशा है कि वह इस बात का समर्थन करती हैं कि इसकी नीति को धर्मानुकूल होना चाहिये। यदि 'प्यूरिटन' धर्म का दौर-दौरा हो तो सम्भव है, इसकी

कुरीतियों की ओर कोई विशेष ध्यान न दें; क्योंकि इस धर्म के अनुयायी सांसारिक जीवन को महत्व नहीं देते। आजकल इस विचार के आदमी बहुत कम हैं। आजकल विशेष ध्यान इस ओर है कि वह नीति अवश्य ही दोषपूर्ण है, जिसके कारण जनता को आन्तरिक सन्तोष नहीं है। यह कारण है कि रूस की जनता ने अपने देश की क्रान्ति में जो आर्थिक त्रुटियाँ थीं, उनकी ओर विशेष ध्यान नहीं दिया, और उसके द्वारा जो मानसिक स्वतन्त्रता लाभ कर ली, उससे असन्तुष्ट होगई। इसलिए यह असम्भव नहीं है कि दूसरे देश, जो धार्मिक कठिनाइयों और मानसिक वेदना से व्याकुल होगये हैं, वह भी सब भय छोड़कर इसी मार्ग का अवलम्बन करें।

साम्यवाद की यही शिक्षा है। अब हम या तो अपने कटु अनुभवों से विवश होकर इसके सत्य को स्वीकार करें, या इस बात पर विश्वास कर लें कि वर्तमान कुरीतियों से बचने का हमारे पास कोई दूसरा उपाय नहीं है। साम्यवाद की उन्नति का कारण उसका आदर्श है, उसका यथार्थवाद नहीं। यह ऐसा सिद्धान्त है, जिसमें अन्ध-विश्वास है—मानसिक उच्छृंखलता है। इन त्रुटियों के होते हुए भी धार्मिक विश्वास मनुष्य के हृदयों पर अधिकार जमा लेते हैं। कोई भी सिद्धान्त, जिसका आधार अध्यात्म पर है, मनुष्यों को आकर्षित कर लेगा।

* * *

प्रेम का दम्भ

[अनुवादक—ऋषभचरण जैन]

महात्मा टॉल्सटॉय की दो अति प्रसिद्ध रचनाओं का अनुवाद। भारत के कर्णधार गाँधीजी टॉल्सटॉय की 'क्रिउज़र सोनेटा'-नामक रचना से बहुत प्रभावित हुए थे। उसी रचना का अनुवाद 'प्रेम का दम्भ' के नाम से किया गया है। संसार की प्रत्येक उन्नत भाषा में इसका अनुवाद हो चुका है। संयम, नैतिकता और सदाचार के पर्दे में पुरुष-समाज जिस पतन-गह्वर में समा रहा है, और असहाया अबलाओं को जिस प्रकार पङ्गु बनाकर उन पर नृशंस अत्याचार करता है, महात्मा टॉल्सटॉय ने अपनी तेजस्विनी लेखनी-द्वारा नंगे रूप में उसे हमारे समक्ष ला-उपस्थित किया है। पढ़कर रोंगटे खड़े हो जाते हैं। प्रत्येक समाज-प्रेमी और प्रत्येक पुस्तकालय के लिए इसकी एक प्रति आवश्यक है।

दूसरी रचना में लेखक की साहित्यिक प्रतिभा का पूर्ण विकास हुआ है। एक पतित और पापी नौकर का देवत्व-भाव और एक सद्गृहस्थ की नीचता का ऐसा बढ़िया वर्णन है, कि पढ़कर दङ्ग रह जाना पड़ता है। सा-थही ज़ारशाही के समय की दासत्व-प्रथा का वर्णन पढ़कर आप थर्रा उठेंगे। किस प्रकार ज़ार की फ़ौज में भर्ती करने के लिए निर्दोष किसान-युवक ज़बरदस्ती पकड़कर लेजाये जाते थे! किस प्रकार उनकी नवीना पत्नी, वृद्धा माता और उनके अन्तरङ्ग उनके वियोग में तड़पते थे! किस प्रकार कुछ चाँदी के टुकड़ों पर लोग अपना धर्म बेच देते थे! तिरंगा कवर, ढाई-सौ पृष्ठ, टॉल्सटॉय का सौम्य चित्र, जिल्द-बँधी पुस्तक का दाम वही १॥) रुपया। दूसरा संस्करण छपा है।

चार क्रान्तिकारी

[अनुवादक—ठाकुर राजबहादुरसिंह]

अँग्रेज़ी के सुप्रसिद्ध लेखक एडगर वालेस की पुस्तक का

अनुवाद। घटनाओं का क्रम इतना तीव्र, इतना आकर्षक और इतना अद्भुत है, कि पढ़कर बरबस दाँतों-तले उँगली दबानी पड़ती है। किस प्रकार एक न्याय्य बात के लिए चार क्रान्तिकारियों ने सारे इङ्गलैण्ड में तहलका मचा दिया, किस प्रकार उन्होंने अपनी विज्ञप्तियाँ वैदेशिक सचिव के पास पहुँचायीं, किस अद्भुत तथा भयानक साहस के बल पर सारे लण्डन में उन्होंने अपना आतङ्क फैला रक्खा, और वैदेशिक सचिव को हत्या कर डाली—इसका रोचक और घटनापूर्ण वर्णन् इस पुस्तक में पढ़िये। पृष्ठ २२४, मूल्य १) रुपया।

तपोभूमि

लेखक— जैनेन्द्रकुमार जैन
ऋषभचरण जैन

'तपोभूमि' हिन्दी-साहित्य की अनुपम निधि है। चार पात्र हैं, और चारों अनोखे! दुनियाँ की मोटी आँख में चारों ही भ्रष्ट और पापी हैं, पर अपने-अपने भीतर चारों ही कितने ऊँचे, अपूर्व और सच्चे हैं—इसका अत्यन्त चमत्कारपूर्ण वर्णन् है। 'नवीन' कहानी का नायक है। यह युवक एक विधवा, पतिता और तिरस्कृता रमणी के लिए निकट-भविष्य में होनेवाले विवाह का विचार छोड़ देता है। सुन्दरी 'शशि' से विवाह होने को था। दोनों का गाढ़ प्रेम था, पर नवीन अपनी कर्त्तव्य-पूर्ति के लिए विधवा धरिणी की खोज में फ़क़ीर बनकर निकल जाता है। उधर शशि का विवाह सतीश से होता है, और दोनों के बीच प्रेम के अभाव के कारण अनिवार्य कलह का सूत्र-पात होता है। सहसा एक दिन नवीन शशि से मिलता है, और शशि उसके साथ चली जाती है। सतीश आकर नवीन की हत्या कर देता है, और इस-

प्रकार संसार-नाटक के यह चार खिलाड़ी गृहस्थ-तपोभूमि की तपस्या में फ़ेल हो जाते हैं। भाषा चुस्त, सादी और सरल है। साढ़े तीन-सौ पृष्ठ, दाम २) रुपया।

टॉल्सटॉय की डायरी

(अनुवादक—ठाकुर राजबहादुर सिंह)

महात्मा टॉल्सटॉय के विषय में आज दुनियाँ का जो भाव है, उसकी तुलना संसार के किसी भी प्राचीन-अर्वाचीन महापुरुष से की जा सकती है। उनके विचार, उनके सिद्धान्त और सामाजिक व्यवस्था के विषय में उनकी अत्यन्त गम्भीर और महत्वपूर्ण आलोचना सर्व-विदित है।

दुनियाँ आज उन्हें ऋषि, सन्त और महात्मा कहती है, लेकिन टॉल्सटॉय अपने अन्तर की दुर्बलताओं का अत्यन्त सतर्कतापूर्वक अध्ययन किया करते थे।

सन् १८९३ से १८९७ तक की लिखी उनकी निजी डायरी अभी हाल में रूसी, अँग्रेज़ी और फ्रेञ्च भाषाओं में प्रकाशित हुई है। इस डायरी का एक-एक पृष्ठ मानवी दुर्बलताओं का बोलता हुआ चित्र है। उसी का अविकल हिन्दी अनुवाद हमने प्रकाशित किया है मू० ३) रु०।

मधुकरी

(दोनों भाग)

[सम्पादक—विनोदशंकर व्यास]

हिन्दी का कहानी-साहित्य दिनों-दिन उन्नति पर है। प्रतिवर्ष अनेक उदीयमान् लेखक इस क्षेत्र में पदार्पण करते हैं, और अपनी-अपनी अनोखी कृतियों से पाठकों को चमत्कृत करते हैं। इस पुस्तक में हिन्दी के सभी ऐसे लेखकों की श्रेष्ठ कहानियों का संग्रह है। मूल्य ६) रुपया

फ़र्स्ट एक्सपेरीमेण्ट

(लेखक—ऋषभचरण जैन)

लेखक के 'सत्याग्रह'-नामक उपन्यास का अँग्रेज़ी-अनुवाद। महात्मा गाँधी ने दक्षिण-अफ्रीका में लगातार चौदह वर्ष तक प्रवासी भारतीयों की अधिकार-रक्षा के लिये सत्याग्रह-युद्ध किया था। यह एक महान् ऐतिहासिक घटना है। लेखक ने इसी घटना का औपन्यासिक वर्णन उक्त पुस्तक में किया है। मूल्य १) रु०

अमर अभिलाषा

(लेखक—आचार्य चतुरसेन शास्त्री)

शास्त्रीजी की सब से ताज़ी और सब से अपूर्व रचना। हिन्दू-समाज के विधवा-तत्व का पाण्डित्यपूर्ण निदर्शन। समाज के रँगे सियारोंका भण्डाफोड़! एक सज्जन और उदार-चित्त नवयुवक का आदर्श चरित्र। दुःख, शोक, लज्जा, अनुताप तथा हर्ष, उत्कर्ष, सदाचार और त्याग के जीते-जागते चित्र। भगवती-नाम्नी एक बाल-विधवा के संघर्षमय जीवन के चारों ओर इस उपन्यास का ताना-बाना पूरा गया है। किस प्रकार यह अबोध बालिका गोविंदसहाय-नामक एक लम्पट युवक के द्वारा लालच में डाल-कर भ्रष्ट की जाती है; किस प्रकार छजिया-नाम्नी एक राक्षसी नायन एक कची कली के सर्वनाश का कारण बनती है; किस प्रकार समाज-बहिष्कार के भय से धर्म-भीरु जयनारायण अपनी प्राणोपम कन्या का गला घोंटता है; किस प्रकार पेटू धर्म-ध्वजी अपने स्वार्थ पर दुनियाँ की आँखों में धूल झोंकने हैं;—इन सब बातों का इतना वेधक और मर्म-स्पर्शी चित्रण इस पुस्तक में किया गया है कि पढ़कर कलेजा हिल जाता है। इस पुस्तक के पाठकों का कहना है कि उन्होंने इसे पढ़कर चौधारे आँसू बहाये हैं; उसे अपनी माँ-बहनों-बेटियों को पढ़कर सुनाया है; उस की

कई-कई कॉपियाँ ख़रीदकर मित्रों में बाँटी हैं। यह पुस्तक सर्व-साधारण में इतनी पसन्द की गई है कि छपने के पूर्व इसके प्रायः पाँच-सौ ऑर्डर और एक हज़ार से ऊपर जिज्ञासा-पत्र आगये थे। स्त्रियोंके लिये यह एक अपूर्व वस्तु है। मोटे एण्टिक पेपर पर सुन्दर छपे हुए साढ़े तीन-सौ पृष्ठ, मनोहर कवर, छः कलापूर्ण चित्र, पक्की जिल्द और मूल्य केवल ३) रुपया।

विश्व-विहार

(सम्पादक—ठाकुर राजबहादुर सिंह)

आज दिन संसार की प्रत्येक उन्नत भाषा में अपरिमित बालकोपयोगी साहित्य प्रकाशित होरहा है। परन्तु हिन्दुस्तान की राष्ट्र-भाषा में आज तक केवल दो-चार छोटी-छोटी पुस्तिकायें ही प्रकाशित हुई हैं। आज हमारे बच्चे स्कूल की निरर्थक कुत्ते-बिल्ली की कहानियाँ पढ़कर अपना जीवन बर्बाद कर रहे हैं; उन्हें दिमाग़ी ख़ूराक देनेवाला साहित्य भाषा में देखने को नहीं मिलता। इस पुस्तक ने हिन्दी-संसार के सामने एक सुन्दर आदर्श उपस्थित किया है। मूल्य केवल ३) रुपया।

बादशाह की बेटी

(अनुवादक—ऋषभचरण जैन)

फ़ान्स के महान् उपन्यासकार अलेग्ज़ैण्डर ड्यूमा के 'दि टू डायनाज़'-नामक उपन्यास का हिन्दी-अनुवाद। हेनरी द्वितीय के जीवन-काल की एक-मात्र कहानी। जैब्री-नामक एक युवक घटनावश एक ग़रीब स्त्री के द्वारा लालित-पालित होता है। यहाँ डायना-नाम्नी एक समवयस्का बालिका से उसका प्रेम होजाता है। अन्त में सिद्ध होता है, कि यह बालिका फ़ान्स के सम्राट् हेनरी द्वितीय की कन्या है। मूल्य सचित्र, सजिल्द का ३) रुपया।

अफ़ीम का अड्डा

(अनुवादक—ऋषभचरण जैन)

इँग्लैण्ड के विश्व-विख्यात जासूसी कहानी-लेखक सर आर्थर कॉनन डॉयल की तीन अनोखी, आश्चर्यजनक, लोमहर्षक और अद्भुत कहानियों का चटकीला अनुवाद। एक बार आरम्भ करके बिना समाप्त किये न छोड़ना, इन कहानियों की ख़ूबी है। मूल्य ।।।) आना।

अमर राठौर

(लेखक—आचार्य चतुरसेन शास्त्री)

द्विजेन्द्रलाल-स्कूल का सर्व-प्रथम मौलिक नाटक। हिन्दी-भाषा में नाट्य-साहित्य अविकसित अवस्था में है। ऐतिहासिक नाटक तो हिन्दी में देखने को नहीं मिलते। शास्त्रीजी की ज़ोरदार लेखनी से निकला हुआ यह ऐतिहासिक नाटक सर्वथा मौलिक है। अमरसिंह राठौर का जीवन राजपूती शान का एक जीता-जागता चित्र है। अब तक अमरसिंह के सम्बन्ध में जो साहित्य उपलब्ध है, उस पर गम्भीर पाठकों ने दृष्टि-निक्षेप नहीं किया। इस साहित्य में अतुल शौर्यवान् वीर की जो कथा वर्णित है, वह भी अत्यन्त विकृत और अनैतिहासिक है। लेखक-महोदय ने पचासों प्राचीन अर्वाचीन पुस्तकों का पारायण करके उक्त वीर की सत्य और ऐतिहासिक गाथा का उल्लेख प्रस्तुत पुस्तक में किया है। स्कूलों में कोर्स-बुक नियत करने के लिये सर्वथा उपयुक्त पुस्तक है। कवर पर भावपूर्ण चित्र। पृष्ठ-संख्या २०० के लगभग, और मूल्य केवल १) रुपया।

सभ्यता का शाप

(अनुवादक—ठाकुर राजबहादुरसिंह)

महर्षि टॉल्सटॉय के सुन्दर नाटक Fruits of Enlightenment का अविकल अनुवाद। अमीरों के चोंचले! दिमाग़ी

ऐयाशी की करामात ! बिगड़े मस्तिष्कों के विकार ! इस पुस्तक में एक ऐसे रूसी परिवार का चित्रण किया गया है, जो धन के मद में ग़रीब किसानों से घृणा करता है, जिसके लड़के-लड़कियाँ तक दरिद्रता के दर्शन से काँप उठते हैं, जिसकी मालिकिन को छींकते-खाँसते डॉक्टर की ज़रूरत पड़ती है, जिनके घर में बात-बात पर अमीरी, नज़ाकत और तकल्लुफ़ की भरमार रहती है। इस परिवार के प्रधान व्यक्ति—मालिक-मालिकिन—प्रेतवाद के पुजारी एक धूर्त के चक्कर में पड़ जाते हैं, और घर की दासी के दिल्लगी-भरे षड्यन्त्र से इस नक़ली जादूगर का भण्डा फूटने पर जो क़हक़हा लगता है, वह देखते ही बनता है। इसके साथ ही अमीरों के मुँह-चढ़े नौकरों की निरङ्कुशता का परिणाम, ग़रीबों की असहाय अवस्था, भयानक कुरीतियों का वर्णन—प्रत्येक भारतीय पाठक के लिये दिलचस्पी की चीज़ें हैं। अत्यन्त मनोरञ्जक पुस्तक है। मूल्य केवल १।) रुपया।

चार्ली चैप्लिन

अँग्रेज़-सिनेमा-विशारद विलियम डॉजसन बोमैन की एक सर्वाङ्ग-सुन्दर रचना का भावानुवाद। विश्व-प्रसिद्ध चार्ली चैप्लिन की घटनापूर्ण जीवन-गाथा—और उसके प्रसिद्ध खेलों की सारगर्भित आलोचना। किस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय महापुरुष एक दिन गली-गली की ख़ाक छानता था, और देखते-देखते अतुल गौरव का अधिकारी बन गया; किस प्रकार एक दिन निष्ठुरतापूर्वक ठुकरा देनेवाले नामधारी मित्र समय आने पर उसके पैरों पर लोटे; किस प्रकार एक कम्पनी-सञ्चालक ने केवल कुछ रुपयों के लोभ पर उसे हाथ से छोड़ दिया, और अन्त में हाथ मल-मलकर पछताया; किन परिस्थियों में उसे अपने विश्व-विख्यात खेलों में हास्य की उत्पत्ति को स्फूर्ति हुई; कौन उसके असल

सहायक थे, और किन्होंने ग़रीबी में उसका हाथ पकड़ा—इन सब बातों का उत्तर आप इस पुस्तक में पाइयेगा। हिन्दी में अपने ढँग की सर्वथा अपूर्व पुस्तक। आठ चित्र और पुष्ट काग़ज़। पढ़ने योग्य पुस्तक है। मूल्य १) रुपया।

कण्ठ-हार

(अनुवादक—ऋषभचरण जैन)

विख्यात फ़्रान्सीसी लेखक अलेग्ज़ैण्डर ड्यूमा के 'दि क्वीन्स नेक्लेस' का हिन्दी-अनुवाद है। किस प्रकार राज-महिषी के हीरों के हार को लेकर भयङ्कर षड्यन्त्र रचा गया, किस प्रकार जादूगर कगलस्तर की भयङ्कर नीति के कारण फ्रेञ्च-राजनीति में क्रान्ति का प्रवेश हुआ; किस प्रकार मायाविनी जीन की चालों के कारण महारानी मेरी को दुनियाँ में मुँह दिखाना हराम हो गया। हमें विश्वास है, कि इसे स्वयं पढ़कर आप अपने मित्रों को पढ़ायेंगे। पाँच-सौ पृष्ठ की सचित्र, सजिल्द पुस्तक का मूल्य केवल ३)

कसक

(लेखक—रामविलास शुक्ल)

हिन्दी के एक नवयुवक लेखक की प्रथम रचना। एक अछूती प्रेम-कहानी का सरस वर्णन्। मूल्य सचित्र, का १।)

चोर के घर छिछोर

(लेखक—जी० पी० श्रीवास्तव बी० ए० एल्-एल्-बी०)

हिन्दी के पाठक जानते हैं, कि श्रीयुत् जी० पी० श्रीवास्तव ने हिन्दी-साहित्य में हास्य-रस की एक नवीन धारा प्रवाहित की है। अब तक उन्होंने केवल हास्य-रस-प्रधान उपन्यास, नाटक और प्रहसन ही लिखे थे, परन्तु प्रस्तुत पुस्तक उस ढङ्ग पर लिखी गई है, जो चित्रपट-प्रेमियों के लिये उत्तम वस्तु है। मूल्य केवल ।=)॥

बिजली

(लेखक—ठाकुर वीरेश्वरसिंह बी० ए०)

ठाकुर वीरेश्वरसिंह हिन्दी की उन महान् आशाओं में से हैं, जिनके विकास पर हमारी दृष्टि अत्यन्त सतर्क भाव से लगी हुई है। 'बिजली' इनकी एक अविकसित नाट्य-कलिका है। यह वस्तु जितनी कच्ची है, उतनी ही बेजोड़ है। इसमें एक ऐसी बालिका का चित्रण किया गया है, जो अपनी माँ का सर्वनाश करनेवाले पुरुष से भीषण बदला लेती है, और अन्त में अपनी जान पर खेल जाती है। ऐसी रमणी की कल्पना हिन्दी-नाट्य-साहित्य के लिये सर्वथा अपूर्व चीज़ है। मूल्य केवल ।=) आना।

दोधारा

(अनुवादक—गुप्तेश्वरप्रसाद श्रीवास्तव)

बङ्गाल के अद्वितीय नाटककार द्विजेन्द्रलाल राय के सुपुत्र दिलीपकुमार राय के एक उपन्यास का अनुवाद। हिन्दी में सैकड़ों मौलिक और अनुवादित उपन्यास प्रकाशित हो चुके हैं, परन्तु हमारा विश्वास है, कि इस जोड़ की पुस्तक आज तक नज़र के आगे से नहीं गुज़री। मूल्य केवल १।।) डेढ़ रुपया।

ग़रीबी के दिन

(अनुवादक—अनूपलाल मण्डल, साहित्य-रत्न)

नोबुल-पुरस्कार-विजेता श्रीयुत 'क्नूट हॉम्सन्' के हाहाकार-मय उपन्यास Hunger का अनुवाद। इस पुस्तक को पढ़कर करुणा के आवेग से आप रो उठेंगे। दु:ख और शोक से आपका हृदय बिलबिला उठेगा। समाज के भिन्न-भिन्न पहलुओं का दर्शन करके आपका एक-एक रोम खड़ा हो जायगा। मूल्य केवल १।।) रुपया।

जर्मनी की राज्य-क्रान्ति

(ले०—दुर्गाप्रसाद भारद्वाज बी० ए०)

संसार की वर्तमान प्रगति का अध्ययन करनेवाले प्रत्येक व्यक्ति की दृष्टि आज जर्मनी की ओर आकर्षित हो रही है; विशेषकर योरोप में तो इस समय इसी की तूती बोल रही है। प्रस्तुत पुस्तक 'Germany's Bloodless Revolution'-नामक एक ग्रन्थ के आधार पर लिखी गई है। इसमें एक पतित जाति के अभ्युत्थान का वर्णन् है। किस प्रकार महा-समर में जर्मनी कुचला गया, और फिर किस प्रकार उभरा, यही प्रस्तुत पुस्तक में दिखाने का साहस किया गया है। हिन्दी-साहित्य में जर्मनी-जैसे महत्त्वपूर्ण देश के विषय में एक भी ग्रन्थ उपलब्ध नहीं। प्रस्तुत पुस्तक इस अभाव की पूर्ति करेगी। इसमें जर्मनी का उत्थान और पतन, जर्मन-प्रजातन्त्र का विकास, वर्तमान जर्मनी; नाज़ी, जर्मनी की योजनायें, हर हिटलर, भावी महासमर-आदि भिन्न-भिन्न अध्यायों के अन्तर्गत जर्मनी के प्रत्येक महत्व-पूर्ण पहलू पर प्रकाश डाला गया है। बहुत ही महत्त्वपूर्ण पुस्तक है। मूल्य केवल ।।।)

शिकारियों की कहानियाँ

(प्रणेता—चौधरी शिवनाथसिंह शाण्डिल्य)

अँग्रेज़ी में एक कहावत है कि "Truth is stranger-than fiction" अर्थात् सच्ची घटनायें काल्पनिक कहानियों से कहीं अधिक आश्चर्यजनक होती हैं। प्रस्तुत पुस्तक के विषय में यह कहावत पूर्ण रूप से चरितार्थ होती है। इसके पढ़ने से मनो-रञ्जन के अतिरिक्त और भी कई लाभ हैं। प्रकृति के क्रीड़ा-स्थल वन-समूह का दृश्य इस प्रकार की कहानियों ही में देखने को

मिल सकता है। इस पुस्तक की कहानियाँ पाठकों के लिये बहुत ही उपयोगी होंगी। मूल्य केवल १) रुपया।

उमङ्ग

(लेखक—गोपालसिंह नेपाली)

(अनु० लेखक—सुमित्रानन्द पन्त)

हिन्दी के इस कोमल-हृदय कवि की मधुर भाषा और भावनाओं का प्रसाद इस सुन्दर पुस्तिका में देखिये। एक-एक पद कण्ठ करने की इच्छा होगी। मूल्य अजिल्द १) सजिल्द १।)

❀ ✱ ❀

इसी वर्ष में छपनेवाले कुछ महत्वपूर्ण ग्रन्थ

१—आत्म-दाह (उपन्यास) लेखक—आचार्य चतुरसेन शास्त्री
२—सोमनाथ " " " "
३—यशवन्तराव होलकर " गणेशदत्त शर्मा गौड़ 'इन्द्र'
४—हमारे अभिनेता " 'विनोद'
५—दीप-शिखा (उपन्यास) अनु०—ऋषभचरण जैन
६—गर्भ-शास्त्र ५)
७—शिकारियों की कहानियाँ १)
८—पृथ्वी और उसके पड़ौसी १)
९—पञ्जाब में हिन्दुओं की स्थिति ॥)
१०—फ़ैसिज़्म की चिनगारी ३)

———